सन्ध्या

के

तीन अङ्ग

COMPILED

CHECKED 1973

मुक्तिराम
उपाध्याय

ओ३म्

सन्ध्या के तीन अंग

प्राणायाम, अघमर्षण और मनसा परिक्रमा की

आध्यात्मिक व्याख्या

लेखक
श्री पं० मुक्तिराम उपाध्याय आचार्य
गुरुकुल पोठोहार चोहाभक्तां
ज़िला रावलपिण्डी

प्रकाशक
वज़ीरचन्द्र शर्म्मा वैदिक पुस्तकालय
मोहनलाल रोड लाहौर

दयानन्दाब्द १०६ } सृष्टिसं० १९७२९४९०३४
आश्विन वि० १९९० } अक्टूबर १९३३ ई०
प्रथमवार २०००] [मूल्य ।-)

प्रकाशक
वज़ीरचन्द्र शर्म्मा
अध्यक्ष वैदिक पुस्तकालय
मोहनलाल रोड, लाहौर ।

मुद्रक
ला० बोधराज अबरोल
विरजानन्द प्रेस
मोहनलाल रोड, लाहौर ।

गुरुकुल ... हरिद्वार

प्रस्तावना

वेद मन्त्रों के व्याख्यान तीन प्रकार के होते हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। अपने जीवन काल में मनुष्यों का सम्बन्ध और संघर्ष भी भूतों, देवों और अध्यात्म तत्वों से ही होता है। इस सम्बन्ध का योग्यता पूर्वक निर्वाह जिस विधि से होना चाहिये, उसका उपदेश मनुष्य को वेद के अतिरिक्त और किसी से नहीं मिल सकता। और सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्य को, उसके लिये उपयोगी एवं आवश्यक कर्म-समुच्चय का उपदेश देने के लिये प्रादुर्भूत हुए वेद को उन सब पदार्थों का तत्व-बोध कराना भी अवश्य चाहिये, जिनका कि मनुष्य की जीवन यात्रा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। वेद सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार माना जाता है। इस भावना को पुष्ट एवं युक्तियुक्त सिद्ध

करने के लिये भी प्रथम यह मानना पड़ता है कि वेद में संसार के सब नाम रूपों का व्याख्यान है।

उपरोक्त वेद के तीन विषयों में संसार के सब नाम रूपों का संग्रह है। भूत नाम प्राणी का है. इसलिये आधिभौतिक विषय में संसार के सब प्राणियों का समावेश है। अग्नि, वायु, विद्युत् और सूर्य आदि, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के अनेक तत्वों का नाम देव है। इस-लिये आधि दैविक विषय में सम्पूर्ण निर्जीव जगत् सन्निविष्ट है। आध्यात्मिक विषय में, आत्मा और आत्मा के निकट सम्बन्धी-शरीर के अंग, इन्द्रियें, मन, प्राण, बुद्धि और अन्तरात्मा का समावेश हो जाता है। इस प्रकार वेद में संसार के सब तत्वों का, जो कि मनुष्य के लिये आव-श्यक हैं, और जिनका मनुष्य के साथ सम्बन्ध है, व्याख्यान है।

वेद में ऐसे भी मन्त्र हैं जो आधिभौतिक

आदि किसी एक विषय का ही वर्णन करते है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों में से दो दो और तीन तीन विषयों का वर्णन करने वाले भी बहुत से मन्त्र है। पूज्य ऋषिवर ने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थलों पर एक २ मन्त्र में कई २ विषयों का भाव दर्शाया है। सन्ध्या के प्रायः सब मन्त्रों मे दो दो और कहीं कहीं तीन तीन विषयों की झलक है। इस छोटी पुस्तिका में अघमर्षण और मनसा परिक्रमा के आध्यात्मिक भावों को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। प्राणायाम के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष विचार प्रकट किये गये है।

जिन पूज्य महर्षियों की विचार माला से इस पुस्तिका में सहायता ली गई है, उनको बार २ प्रणाम। डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा महोदय की "हमारे शरीर की रचना" पुस्तक से भी कुछ स्थलों के लिये सहायता ली

गई है उन का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूं ।

मैं इस कार्य में कतिपय आर्य सज्जनों की प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ हूं । परन्तु है यह अधिकांश में अनधिकार चर्चा । इन उन्नत अध्यात्म भावों की चर्चा तो उन पूज्य महानुभावों को करनी चाहिये, जिनका आसन उपासक समाज में ऊंचा हो । दूसरी बात यह भी है कि बालक के हाथ में खिलौना, उसकी परिस्थिति और योग्यता को ध्यान में रख कर देना चाहिये । आज मानव समाज में ऊंची अध्यात्मभावना के अधिकारी कहीं कोई विरले ही मिलते हैं । अतः ऐसे विचारों का प्रकाश उतना अधिक लाभदायक भी नहीं । यही कारण था कि पूज्य महर्षि ने लोगों को उतना ही प्रसाद बांटा जितना कि उनके हाथों में समा सकता था । भाष्य भूमिका की संस्कृत अधिक से अधिक सरल लिखी, और उससे भी सन्तुष्ट न होकर उसका आर्य भाषा में अनुवाद कर दिया ।

नित्य कर्मों में पठित मंत्रों के अर्थ उतने ही सरल किये, जितनी कि उनके पाठकों की योग्यता और अध्यात्म कर्म में गति थी। आज कल के लेखकों में और महर्षि में यही तो विशेष अन्तर है। हमें चिन्ता रहती है कि कहीं हमारी योग्यता कम न प्रतीत हो, और उन्हें ध्यान रहता था कि जिनके लिये हम लिख रहे हैं, कदाचित् वे न समझें।

ऊपर की पंक्तियों में अपने ऊपर किये गये, अपने दो आक्षेपों का अपने ही मनस्तोष के लिये जो थोड़ा सा समाधान किया जा सकता है वह यह है—

भाव ऋषियों के हैं या भगवान् के।
लिख दिये हैं, सार उनका जान के।
सब तरह के लोग हैं, संसार है।
आप ले लेगा जिसे अधिकार है।

इस छोटी सी पुस्तिका में जितना कि सम्भव

था, संक्षेप से दो चार दार्शनिक विचारों का भी निर्देश किया गया है। उन विचारों में, और अर्थ-प्रकाशन में भी त्रुटियों की सम्भावना है। आर्य विद्वान् इन त्रुटियों के लिये मुझे कदापि क्षमा न करें, और उन की सूचिका से सूचित कर अनुगृहीत करें। भविष्य में उस विषय का पारस्परिक विचार पूर्वक संशोधन किया जा-सकता है। अन्त में यही नम्र निवेदन है—

आप जानें ठीक है यह या अशुद्ध,
जो समझ में आगया वह लिख दिया।

मुक्तिराम उपाध्याय

* ओ३म् *

प्राणायाम

प्राण के निरोध का नाम प्राणायाम है। शरीर में प्रविष्ट होकर कार्य करने वाले वायु को प्राण कहते हैं। जो वायु हम नासिका या मुख से अन्दर लेते हैं, या बाहर निकालते हैं केवल उसी का नाम प्राण नहीं है। प्राण-वहा नाड़ियें शरीर के प्रत्येक अङ्ग में, यहां तक कि त्वचा के भी प्रत्येक अणु में फैली हुई हैं। इन सब नाड़ियों में प्रति-क्षण प्राणदेव परिक्रमा करते रहते हैं। प्राण वाहक नाड़ियें रक्त वाहक नाड़ियों की भाँति बीच में से सच्छिद्र नहीं हैं, ठोस हैं। इन के अभ्यन्तर तथा बाहर के अवयवों से होता हुआ प्राण इस प्रकार गति करता है जैसे कि "ब्लाटिंग पेपर" में पानी। इन्हीं को प्राण सूत्र

कहते हैं। गति और ज्ञान दोनों प्रकार के कार्य्यों का सम्पादन प्राण इन्हीं सूत्रों द्वारा करता है। गति-सूत्र और ज्ञान-सूत्र भिन्न २ होते हैं। इन में से कुछ धूसर और कुछ श्वेत रंग के होते हैं। शरीर के सब अङ्गों में फैले हुए ये प्राण सूत्र, जिन प्रधान अङ्गों से निकलते हैं, उनके नाम हैं— मस्तिष्क, सुषुम्णा और पिङ्गल माला। मस्तिष्क से निकले हुए प्राण-सूत्र, नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा, फुप्फुस और हृदय की ओर जाते हैं। ये सब सूत्र प्रायः मस्तिष्क की नली से निकलते हैं।

सुषुम्णा का आरम्भ ग्रीवा के पिछले भाग और कपाल के संयोग स्थान पर मस्तिष्क के महा छिद्र से होता है। इस छिद्र से ग्रीवा की अन्तिम कसेरुका का छिद्र मिला रहता है।

कसेरुकाएं ग्रीवा में सात, पृष्ठ में बारह और कटि प्रदेश में पाँच होती हैं। इस प्रकार सङ्कलन से सब कसेरुकाओं की संख्या चौबीस होती है।

प्रत्येक कसेरुका के बीच में छिद्र होता है। ये कसेरुकाएं एक दूसरी के ऊपर टिकी रहती हैं। इन सब के छिद्र एक दूसरी के छिद्र के सामने रहते हैं, और इस प्रकार इन सब छिद्रों को मिलाकर एक नाली बन जाती है। मस्तिष्क के छिद्र से आरम्भ होकर इसी नाली में से होती हुई सुषुम्णा नीचे की ओर जाती है। इस का नीचे का अन्तिम भाग, प्रथम और दूसरे कटि कसेरुका के बीच के स्थान में होता है। यह स्थान लगभग नाभि के सामने पिछली ओर होता है। इस के नीचे सुषुम्णा नहीं होती। यहां से सुषुम्णा से एक सूक्ष्म तन्तु निकलता है। और वह किसी विशेष मसाले के सूत्र द्वारा गुदास्थि से जुड़ा रहता है। सुषुम्णा का अन्तिम भाग उस में से निकले हुए प्राण सूत्रों के सञ्चय द्वारा अश्व-पुच्छ के समान बन जाता है। सुषुम्णा के बीच में छिद्र होता है। ग्रीवा

से लेकर नीचे के भाग तक इस में से ३१ इक्तीस प्राण सूत्र निकलते हैं। उन में से ऊपर के भागों से निकले हुए कुछ तो कसेरुकाओं में से होकर विभिन्न अङ्गों में फैल जाते हैं, और कुछ नीचे वाले, कसेरुका नली में से इकट्ठे ही नीचे की ओर जाते है। आगे चल कर ये भी एक २ करके क्रम से अङ्गों में विभक्त हो जाते हैं, और इसी लिये सुपुम्णा का अन्तिम भाग अश्व-पुच्छ के सदृश बन जाता है। सुषुम्णा से निकले हुए वात-सूत्रों की भी आगे चल कर अनेक सूक्ष्म शाखाएँ हो जाती है।

कुण्डलिनी पेट में कौन अङ्ग है और उस के जग जाने पर सुपुम्णा का मुख खुल जाने से क्या तात्पर्य है, यह अभी समझ में नहीं आया। हां, इतनी बात अवश्य है—कि "कुण्डलिनी जागरण" नामक क्रिया के बाद सुपुम्णा मार्ग से प्राण बिना आयास के तीव्रता से मस्तिष्क

की ओर चला जाता है, और इस से प्रथम ऐसा नहीं होता था। बहुत सम्भव है कि सुषुम्णा का नीचे का अश्व-पुच्छ भाग श्लेष्मा आदि मलों से आक्रान्त रहता हो, और वही प्राण की ऊर्ध्वगति का प्रतिबन्धक हो। विशेष क्रियाओं द्वारा इसका संशोधन हो जाने के बाद प्राण-तन्तु खुल जाते हों, प्राणों का प्रतिबन्ध हट जाता हो और इसी का नाम "कुण्डलिनी जागरण" या "सुषुम्णा मुख-विकास" पड़ गया हो।

ग्रीवा, छाती और उदर में पृष्ठ-वंश के दोनों ओर डोरी के समान दो नाड़ियां पड़ी रहती हैं। इन नाड़ियों में थोड़ी २ दूर पर गांठों जैसे उभार होते हैं। ये दोनों ओर की नाड़ियें गुदास्थि के सामने जाकर आपस में मिल जाती हैं। यदि इन नाड़ियों को सूत्र और बीच की गांठों को मणके मान लें तो यह एक

माला बन जाती है। भारतवर्ष में माला पहिनने की कल्पना, सम्भवतः प्राचीन काल के शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों ने इस अन्दर के दृश्य को बाहर दिखलाने के लिये ही की हो। इस कल्पना में युक्ति भी सहायता देती है। इन दो नाड़ियों में प्रत्येक में पचीस २ गाँठें होती हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पिङ्गल-माला में पचास गाँठें हुई। इस दृश्य के आधार पर तो बाहर की माला में भी पचास ही दाने होने चाहियें। परन्तु पिङ्गल-माला की ये गाँठें आपस में जुड़ी हुई नहीं है। इन सब के बीच में अन्तर है। इस अन्तर को दिखलाने के लिये ही प्रत्येक मोटे दाने के साथ एक पतला दाना डालना पड़ा होगा।

इस प्रकार बाहर की माला के दानों की संख्या सौ हो जाती है। आजकल माला के दाने १०८ होते हैं। पुराने कर्म्म काण्डियों से पूछने पर

पता लगा है, कि माला के दाने तो वस्तुतः एक सौ ही होते हैं। आठ दाने अधिक इसलिये डाल दिये जाते हैं, कि जप करते हुए शीघ्रता में यदि बिना मन्त्रोच्चारण किये कोई दाना हाथ से निकल जावे, तो वह कमी इन दानों से पूरी होती रहे। पिङ्गल-माला का आरम्भ नासिका के समीप से होता है। नासिका के ऊपर शिर है। सम्भवतः इसी दृश्य को दिखलाने के लिये, माला की दोनों लड़ियों के ऊपर शिर की जगह सुमेरु नामक मोटा दाना रक्खा गया हो। यह माला जप का साधन कैसे बन गई? भाव के भूल जाने पर। जैसे कि आज कल यज्ञोपवीत तालियों का गुच्छा बाँधने का साधन बन गया है।

पिङ्गल माला की ग्रन्थियों का रङ्ग लाली और भूरे पन को लिये हुए होता है। इसी रङ्ग का नाम पिङ्गल है। और इसीलिये इस का

नाम पिङ्गल-माला पड़ गया है। अभ्यासी लोग इसी माला के बाएँ और दाएँ भाग को इड़ा और पिङ्गला नाम से पुकारते हैं। और इन में से एक नाड़ी द्वारा प्राण को ऊपर ले जाने और एक से उसे बाहर निकालने का उपदेश करते हैं। वस्तुतः इन नाड़ियों द्वारा श्वास के आदान प्रदान का कार्य नहीं होता। यह सब कार्य आरम्भिक अवस्था में वात-प्रणालियों द्वारा सम्पादित किया जाता है। इन प्रणालियों का वर्णन आगे किया जावेगा।

पिङ्गलमाला में से भी बहुत से प्राण-सूत्र निकलते हैं। ये सब शरीर के विभिन्न अङ्गों में फैले रहते हैं। सुषुम्णा से निकले हुए भी बहुत से प्राण सूत्र पिङ्गल-माला की गोलिकाओं में से होकर मस्तिष्क और शरीर के भिन्न २ अङ्गों में जाते हैं। सुषुम्णा और पिङ्गल माला से निकले हुए प्राण-सूत्रों का भी मस्तिष्क के

साथ सम्बन्ध होता है। अतः प्रत्येक अङ्ग में होने वाली घटना का तार मस्तिष्क के पास तत्काल पहुँच जाता है। यह सब क्रिया प्राण अन्तःकरण की सहायता से करता है।

अन्तःकरण और प्राण दोनों ही प्राण सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए है। अन्तःकरण की उत्पत्ति अन्न से और प्राण की उत्पत्ति जल से मानी गई है। यथा—

"अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राण-स्तेजोमयी वागिति" छान्दोग्य, अ. ६। खं.५। मं. ४॥

"हे सोम्य! मन की उत्पत्ति अन्न से होती है, प्राण की जल से और तेज से वाणी की उत्पत्ति होती है।" हमारे भोजन में पृथिवी, जल और तेज तीनों के ही भाग रहते है। यहां पार्थिव भाग को अन्न कहा है। अतः यह

मानना पड़ता है कि हमारे भोजन के पार्थिव सूक्ष्मांश से मन, जल के सूक्ष्म अंश से प्राण और तेज के सूक्ष्म अंश से वाणी को उत्पन्न करने वाला तत्व बनता है। हमारे भोजन का सूक्ष्मांश रक्त के रूप में परिणित हो जाता है। रक्त फुप्फुसों के द्वारा शुद्ध होकर हृदय में और फिर धमनियों में होकर शरीर में फैल जाता है। उस रक्त के अन्दर ही सम्भवतः मन, प्राण और वाणी के मूल तत्व मिले रहते हैं। जिस प्रकार धमनियों में से लसीका प्रणालियों में रक्त का अंश, लसीका नामक रस टपक जाता है। इसी प्रकार मन और प्राण के मौलिक भी धमनियों में से ही प्राण-सूत्रों में विश्लिष्ट होकर चले जाते हैं। धमनियों में से ही निकल कर वाणी के तैजस, मौलिक शरीर के आकाश में फैल जाते हैं। मन, प्राण और वाणी तीनों का ही प्रधान केन्द्र मस्तिष्क है। एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए

ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। मन्त्र इस प्रकार है—

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना ॥"

"एक कटोरा है जिस का मुख नीचे को और तला ऊपर को है। उस में विश्वरूप यश रक्खा हुआ है। उस के किनारों पर सात ऋषि हैं, और आठवीं वाणी ब्रह्म का संवेदन या ज्ञान करने वाली रहती है।" ऋषि याज्ञवल्क्य लिखते है—

"अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन्। यशो निहितं विश्वरूपमिति—प्राणा वै यशो विश्वरूपम्प्राणा नेतदाह। तस्यासत ऋषयः सप्त

तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणा नेनदाह। वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वागष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ।"

'जो नीचे को मुख और ऊपर को तली वाला कटोरा है, वह शिर है। उस में जो विश्व-रूप यश रक्खा हुआ है वह प्राण है। उस के किनारे पर जो सात ऋषि रहते हैं, वे भी सात प्राण ही हैं। ब्रह्म का संवेदन करने वाली आठवीं वाणी है।

ऋषि याज्ञवल्क्य की इस व्याख्या में शिर, प्राणों का केन्द्र स्थान स्पष्ट शब्दों में कहा है। ज्ञानेन्द्रियों को भी प्राण नाम से उपनिषदों में कहा गया है। सात प्राणों में छः ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मुख्य प्राण है। दो कान दो आंखें एक नासिका और एक रसना ये छः प्राण ज्ञानेन्द्रिय नामक हैं, और आठवीं वाणी है।

इन सब ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञानतन्तु या प्राण सूत्र मस्तिष्क से निकलते हैं। इस लिये इन का सञ्चालक प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में ही है। जो केन्द्र है वही मुख्य प्राण है।

प्राण की तरह अन्तःकरण भी शरीर में सर्वत्र फैले हुए प्राण सूत्रों में सञ्चार करता है। यह और प्राण दोनों साथ मिल कर ही ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। अन्तःकरण का भी प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में ही है। ज्ञान-तन्तुओं का सञ्चालन उसी केन्द्र द्वारा होता है। आत्मा का निवास स्थान मस्तिष्क है, और उस के पास ही उस के सदा साथ रहने वाला अन्तःकरण तत्व है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार उसी अन्तः करण की चार अवस्थाएं हैं। इसकी निश्चयरूप वृत्ति का नाम बुद्धि, अनिर्णीतावस्था का नाम मन, अभिमानाकार अवस्था का नाम अहङ्कार और स्मरणात्मक वृत्ति का नाम चित्त है। किसी

विषय का निर्णय करने के लिये मस्तिष्क पर ही विशेष बल देना पड़ता है, अतः अन्तःकरण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में ही मानना पड़ता है। शरीर के सब प्राण सूत्रों में फैले हुए अन्तःकरण तत्व का इसी के साथ सम्बन्ध है।

अन्तःकरण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क में मानने के और भी कई कारण हैं, उन में से एक यह है कि यह आत्मा का सन्निहित साधन है। आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को सञ्चालित करता है। सब ज्ञानेन्द्रियों का सन्निवेश मस्तिष्क में है, इस लिये उन के सञ्चालक अन्तःकरण और आत्मा का भी सन्निवेश मस्तिष्क में ही होना चाहिये।

दूसरा कारण यह है कि आत्मा का प्रधान स्थान मस्तिष्क है, इसलिये उस के अन्तरङ्ग साधन अन्तःकरण का भी प्रधान स्थान मस्तिष्क में ही होना चाहिये। मस्तिष्क में आत्मा की

स्थिति ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी मानी है और अथर्व वेद ने भी इस का निर्देश किया है यथा—

"कतमः स आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः"

बृहदारण्यक अ० ४ ब्रा० ३ मं० ७॥

"प्रश्न किया गया कि आत्मा कौन है ? उत्तर दिया गया कि जो प्राणों के बीच में विज्ञानमय और हृदय में विद्यमान ज्योतिःस्वरूप है"।

हम प्रथम लिख आये हैं कि उपनिषदों में प्राण शब्द से ज्ञानेन्द्रियों को भी कहा जाता है। यहां प्राणों के बीच में आत्मा का निर्देश, उस का मस्तिष्क में स्थिति को स्पष्ट करता है। यहां यह भी कहा गया है कि वह प्रकाश रूप आत्मा हृदय में है इससे यह प्रतीत होता है कि जिस हृदय में आत्मा और अन्तःकरण रहते हैं, वह

हृदय भी मस्तिष्क में ही है। छान्दोग्य का निम्न प्रकरण मस्तिष्क में इस हृदय की सत्ता को स्पष्ट करता है।

"तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च-देव सुषयः। स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राण-स्तच्चक्षुः स आदित्यः। तत्तेजोऽन्नाद्यमित्यु-पासीत, तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद। अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत, श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद। अथ यो ऽस्यो प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः। तदेतद्ब्रह्म वर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत, ब्रह्म-वर्चस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद। अथ यो ऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यः तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत, कीर्तिमान्

व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद। अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः। तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत, ओजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद। ते वा एते पञ्च ब्रह्म पुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः।"

छान्दोग्य, अ० ३ ख० १३॥

"इस हृदय के पाँच देव द्वार हैं। इसका पूर्व देव द्वार चक्षु नामक प्राण है, वह आदित्य है। उसे तेज और अन्नाद्य जान कर उपासना करनी चाहिए। वह तेजस्वी और अन्न भोक्ता बनता है जो ऐसा जानता है। इसका दक्षिण देव द्वार व्यान है। वह श्रोत्र है। उसे चन्द्रमा भी कह सकते हैं। उसको श्री और यश नाम से उपासना करनी चाहिये। जो ऐसा जानता है श्रीमान् और यशस्वी होता है। इसका पश्चिम द्वार अपान या वाक् है, उसे अग्नि भी कहते हैं।

उसकी ब्रह्म वर्चस और अन्नाद्य नाम से उपासना करनी चाहिए। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म तेज से सम्पन्न और अन्न भोक्ता होता है। उस का उत्तर द्वार समान या मन है। वह मेघ है। उसकी कीर्ति और व्युष्टि नाम से उपासना करनी चाहिए। जो ऐसा जानता है, वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् होता है। उसका ऊर्ध्व द्वार उदान या वायु है। उसे आकाश भी कह सकते हैं। उसकी ओज और महः नाम से उपासना करनी चाहिये। जो ऐसा जानता है ओज और महत्व को प्राप्त करता हैं। ये ऊपर कहे पाँच ब्रह्म पुरुष स्वर्ग लोक के द्वारपाल हैं।"

छान्दोग्य के इस प्रकरण में हृदय के पांच देव द्वार या द्वारपाल बतलाए हैं। और वे पाँच हैं—चक्षुः, श्रोत्र, वाणी, मन और वायु अर्थात् प्राण। इन में से चक्षु श्रोत्र और वाणी का तो स्थान शिर निश्चित ही है। अब ये जिस हृदय के

देव द्वार हैं, अथवा जिस हृदय रूपी स्वर्ग के द्वारपाल हैं, वह हृदय मस्तिष्क के अतिरिक्त और किसी स्थान पर माना ही नहीं जा सकता। योगी को ब्रह्मानन्द भी मस्तिष्क में जाकर ही मिलता है। इसीलिये इन पांचों को ब्रह्म-पुरुष कहा गया है। स्वर्ग का अर्थ है आनन्द की ओर जाने वाला। और आनन्द की ओर जाने वाला आत्मा इसी हृदय में है, इसलिये इसे स्वर्ग-लोक कहा है। दो देव-द्वार मन और प्राण हैं। हृदय का मस्तिष्क में निर्णय हो जाने पर उसके इन दोनों द्वारपालों की सत्ता भी मस्तिष्क में निश्चित हो जाती है। इसलिये छान्दोग्य के इस एक ही प्रसङ्ग से इतनी बातें निर्णीत हो जाती हैं : १—हृदय की मस्तिष्क में सत्ता। २—आत्मा का मस्तिष्क के हृदय में निवास। ३—मन और प्राण का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क। आत्मा की मस्तिष्क में सत्ता का बोधक अथर्व वेद का

प्रसिद्ध मन्त्र यह है—

"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।'

आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली एक नगरी अयोध्या है। उस में एक हिरण्यमय-प्रकाशमान कोष स्वर्ग है। और वह प्रकाश से चारों ओर से घिरा हुआ है।

यह शरीर का वर्णन है। शरीर में आठ चक्र हैं। वे मूलाधार से लेकर सहस्रार तक हैं। कोई अभ्यासी इन की संख्या सात और कोई आठ भी बतलाते हैं। इसे देवताओं की नगरी अयोध्या—पराजित न होने वाली कहा है। इसमें स्वर्ग—आनन्द की ओर जाने वाला आत्मा, प्रकाश से घिरा हुआ है। प्रकाश का मान योगियों को मस्तिष्क में ही होता है, इसलिये आत्मा की सत्ता मस्तिष्क में ही माननी चाहिये।

इसी मन्त्र का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है। अष्टचक्रा (अष्टभिश्चक्रं यस्याः) जिसका चक्र—खोपड़ी का गोला आठ हड्डियों से बना है। (हमारा शिर २२ हड्डियों से बना है। उस की खोपड़ी जो गोलाकार है, जिस में मस्तिष्क रहता है, आठ हड्डियों से बनी है। शेष चौदह हड्डियों से मुख की आकृति बनी है।) दो कान, दो नाक, दो आँखें, एक मुख, एक मस्तिष्क का सुषुम्णा के सामने का महाछिद्र और एक त्रिकुटि के ऊपर का अन्तः छिद्र, ये नौ इस शिर रूपी अयोध्या नगरी में द्वार हैं। ज्ञानेन्द्रियां ही इस में देवता हैं। इस प्रकार यह मन्त्र शिर का वर्णन करता है। इस अर्थ के अनुसार भी स्वर्ग या आत्मा का निवास स्थान मस्तिष्क ही निश्चित होता है।

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय में मन को हृत्प्रतिष्ठ (हृदय में रहने वाला) कहा है। यहां

भी हृदय शब्द से मस्तिष्क वाला हृदय ही ग्रहण करना चाहिये। छाती में फुप्फुसों के बीच में भी हृदय है। वह विशेष रूप से रक्ताशय है। रक्त के बिना शरीर का कोई कार्य नहीं चल सकता। शरीर की सारी अस्थियों, प्राण सूत्रों, मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं और सारे ही अवयवों को भोजन इसी के द्वारा मिलता है। भोजन से प्राण और मन की उत्पत्ति भी इसी के द्वारा होती है। इसका सञ्चालन भी मस्तिष्क में बैठा हुआ आत्मा अन्तःकरण और प्राण के द्वारा करता है। इस यन्त्र के बिगड़ते ही प्राण, अन्तःकरण और आत्मा शक्ति-विहीन हो जाते हैं। यह यन्त्र शरीर के अङ्गों को इस प्रकार का भोजन देता है, जिसके बिना उनका जीवन एक क्षण के लिये भी असम्भव होजाता है। इस लिए इसकी स्थिति से अन्तःकरण का कार्य चलता है, अन्यथा नहीं। अतः इस हृदय की दृष्टि से भी पूर्वोक्त

कारण से उसे "हृत्प्रतिष्ठ" कह सकते हैं।

इस विषय का विशेष विवेचन निकट भविष्य में ही प्रकाशित होने वाली "अध्यात्म-जगत्" नामक पुस्तिका में होगा।

आत्मा अणु है। ऋषि दयानन्द भी आत्मा को अणु ही मानते थे—ऐसा प्रतीत होता है। उन्हों ने सत्यार्थ-प्रकाश में प्रश्न उठाया है—

"प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिच्छिन्न ?

उत्तर—परिच्छिन्न।"

यहां ऋषि ने जीव को परिच्छिन्न कहा है। परिच्छिन्न कहने से ही उसे व्यापक तो माना नहीं जासकता। अब दो ही परिमाण रह जाते हैं- मध्यम परिमाण अर्थात् शरीर जितना बड़ा अथवा अणु। शरीर जितना परिमाण भी जीव का ऋषि मान नहीं सकते। क्योंकि जैनियों का

खण्डन करते हुए आत्मा के इस परिमाण का ऋषि ने खण्डन किया है। अब अणु परिमाण ही शेष रह जाता है, बस आत्मा का यही परिमाण है।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥
श्वेताश्वतर, अ. ५, मं. ९॥

इस उपनिषत् मंत्र में भी जीव का अणु परिमाण ही कहा है। इसका भाव यह है-बाल की अगली नोक के सौ टुकड़े किये जावें; और उन में से भी एक टुकड़े के सौ टुकड़े किये जावें; उन भागों में से एक भाग का परिमाण जीव का परिमाण है। और जीव अनन्त है-अविनाशी है। "अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चचर्ष बलाद्यमः" (अन्तक भगवान् ने अंगुष्ठ जितने बड़े आत्मा को बल पूर्वक शरीर से निकाल लिया) इस वाक्य में अंगुष्ठमात्र परिमाण केवल आत्मा का नहीं, सूक्ष्म

शरीर सहित आत्मा का कहा है । इस प्रकार आत्मा का परिमाण अणु ही है ।

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर में व्यापक नहीं है—शरीर के एक भाग मस्तिष्क में रहता है, और उसका परिमाण अणु है । उसके समीप ही मस्तिष्क में अन्तः-करण रहता है । और अन्तःकरण के समीप ही मस्तिष्क में प्राण केन्द्र है । इन्हीं सब शक्तियों के चारों ओर शिर में ज्ञानेन्द्रियों का सन्निवेश है ।

मस्तिष्क में निवास करता हुआ आत्मा अन्तः-करण को प्रेरित करता है । और अन्तःकरण, प्राण, प्राण–सूत्रों और ज्ञान-सूत्रों के द्वारा शरीर के सब कार्यों का निर्वाह करता है । प्राण-सूत्रों में विस्तृत अन्तःकरण तत्व को केन्द्र स्थानीय अन्तः-करण खींच कर अपने स्थान में एकत्रित कर सकता है । और इसी प्रकार केन्द्र स्थानीय प्राण शरीर के सब प्राण को अपने स्थान में आकर्षित

कर सकता है।

प्राण भी प्राण-सूत्रों द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों में पहुंच कर कार्य सम्पादन करता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार के कार्य अन्तःकरण और प्राण के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। अन्तः करण के बिना प्राण और प्राण के बिना अन्तःकरण कोई कार्य नहीं कर सकता इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः अन्तःकरण प्राणों के रोकने से रुक जावेगा, और उसके रुक जाने से शरीर के ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रकार के कार्य बन्द होजावेंगे। इस सारे विक्षेप के हट जाने पर आत्मा अपने स्वरूप का, और उसके अभ्यन्तर विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का अनुभव कर सकेगा। प्राण-निरोध का योग-दर्शन में भी यही फल बतलाया है। लिखा है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" प्राणायाम से प्रकाश पर आया हुआ

पर्दा फट जाता है, आत्मा की ज्योति प्रकट होजाती है।

यह सब ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि सारे शरीर में विस्तृत सूत्र-जाल में व्यापक प्राणों का निरोध हो कैसे ?। इस प्रश्न का उत्तर ऋषि पतञ्जलि इस प्रकार देते हैं :—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः? प्राणायामः ?

आसन के जीत लेने पर प्राण-निरोध होजाता है, और वह है श्वास और प्रश्वास की गति का निरोध। वायु नासिका के छिद्रों द्वारा कण्ठ में जाता है, कण्ठ से उतर कर स्वर-यन्त्र में, स्वर-यन्त्र से टेंटुवे में, टेंटुवे से दाईं बाईं वायु-प्रणालियों में, और वायु-प्रणालियों से दाए और बाए फुप्फुसों में चला जाता है।

ग्रीवा में सामने टटोलने से जो लम्बी कठिन वस्तु प्रतीत होती है, वह टेंटुआ है। उसी के ऊपर

के चौड़े मोटे भाग को स्वर-यन्त्र कहते हैं। टेंटुए की लम्बाई साढ़े चार इंच होती है। इसका नीचे का भाग छाती की हड्डी के पिछली ओर होता है। छाती की चौथी या पाँचवीं कशेरुका के पास जाकर यह दो भागों में विभक्त होजाता है। इन शाखाओं का नाम ही वायु-प्रणाली है। इन में से एक नाली दाएं और दूसरी बाएं फुफ्फुस में चली जाती है। फुफ्फुस में जाकर टेंटुए की ये शाखाएं वृक्ष की शाखाओं की तरह अनेक शाखाओं में विभक्त होजाती हैं। वात-प्रणाली की शाखाओं द्वारा गया हुआ वायु फुफ्फुसों की छोटी २ अनन्त कोठरियों के अन्दर भर जाता है। वायु के दबाव से फुफ्फुस फूलते हैं और छाती फैलती है। इसी क्रिया का नाम श्वास है। फिर नासिका से वायु बाहर निकलता है, फुफ्फुस सिकुड़ते हैं, छाती पूर्व दशा को प्राप्त हो जाती है। इसी का नाम प्रश्वास है। इसी

श्वास और प्रश्वास को गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है।

युवा मनुष्य एक मिनट में १६-१७ श्वास लिया करता है। इन के विच्छेद या निरोध से तात्पर्य इन के कम करने से है। यदि मनुष्य एक मिनट में १६ श्वास लेता है तो वह उन्हें क्रम से घटा कर एक मिनट में एक, दो मिनट में एक और इसी क्रम से जहां तक शक्ति हो कम कर सकता है। इस गति विच्छेद का सम्पादन भी अन्धाधुन्ध नहीं करना चाहिये। इस की भी प्रक्रिया है। उसी का बोध कराने के लिये ऋषि पतञ्जलि लिखते हैं:—

वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

यो. द. साधन पा. सू. ५०

देश काल और संख्या से परिमित, दीर्घता

सूक्ष्मता से परीक्षित, बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ वृत्ति तीन प्रकार के प्राणायाम हैं।

शिक्षा के आरम्भ काल में बालक को अक्षर सिखाने वाला गुरु एक अक्षर के कई टुकड़े कर लेखन-कला का अभ्यास कराता है। इसी प्रकार ऋषि ने भी यहां प्राणायाम को तीन भागों में विभक्त कर शिक्षा देना आरम्भ किया है। उन में से प्रथम भाग बाह्य-वृत्ति है।

बाह्य वृत्ति प्राणायाम में फुप्फुसों में भरे हुए सब श्वास को नासिका द्वारा सहसा बाहर निकाल दिया जाता है। फिर इसी अवस्था में प्राण को बाहर ही रोके हुए कुछ काल निश्चल बैठा रहना पड़ता है। मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्र द्वारा यह भावना की जाती है, कि मैं शरीर के सारे प्राण को मस्तिष्क की ओर खींच रहा हूं। ठोड़ी को कण्ठ के साथ लगा दिया जाता है। हृदय को स्तब्ध करने का यत्न किया जाता है।

नाभि और नाभि के नीचे के भाग को पीछे को खींच लिया जाता है। पैरों से एक निश्चल और सीधे आसन पर बैठा रहना होता है। विभिन्न अङ्गों की यह उपरोक्त स्थिति सब प्राणायामों में इसी प्रकार रखनी पड़ती है। अङ्गों की इस क्रिया का मूल प्राणायाम मन्त्रों में मिलता है। इसे आगे चल कर स्पष्ट किया जावेगा। इस सारी क्रिया को अभ्यास के लिये इसी प्रकार कई बार किया जाता है। जब न ठहरा जासके और श्वास लेने की प्रबल प्रेरणा हो तो श्वास को नासिका से सहसा ही अन्दर भरके फिर तत्काल बाहर निकाल दिया जाता है और फिर प्रथम अवस्था में ही ठहर जाना होता है।

आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम में नासिका द्वारा श्वास को फुप्फुसों में सहसा भर देना चाहिये, और फिर श्वास को अन्दर ही रोके हुए सीधे निश्चल आसन पर पूर्वोक्त अङ्गों को उसी

अवस्था में रख कर, जितनी देर तक ठहरा जासके ठहर जाना चाहिये। और जब न रहा जासके तो प्राण को नासिका द्वारा सहसा निकाल कर उसी अवस्था में फिर भर लेना चाहिये और पूर्वोक्त विधि से निश्चल बैठ जाना चाहिये। यह प्रक्रिया कई वार करनी चाहिये।

तीसरा प्राणायाम स्तम्भवृत्ति है। इस में न श्वास को बाहर निकालने की आवश्यकता है और न बाहर से अन्दर लेने को। जिस अवस्था में श्वास विद्यमान है, उसी अवस्था में उसे रोक दिया जाता है। जब न रहा जासके तो साधारण रीति से श्वास लेकर फिर उसे उसी अवस्था में रोक दिया जाता है। शेष सब प्रक्रिया पूर्वोक्त ही है। इस प्रक्रिया में श्वास और प्रश्वास दोनों ही का निरोध होजाता है। इस के लिये व्यास जी ने बड़ा अनुकूल दृष्टान्त दिया है। उन्हों ने लिखा है—"जैसे तपे हुए पत्थर पर डाला हुआ जल

चारों ओर से हट कर एक स्थान पर सञ्चित होजाता है, इसी प्रकार इस प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास दानों का युगपत् निरोध हो जाता है"।

अब साथ ही साथ बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति तीनों ही निरोधों के देश, काल और संख्या का परिमापण भी करना चाहिये। यह परिमापण तोनों में एक ही प्रकार का है। यद्यपि इसके विवेचन में विशेष विस्तार है, परन्तु यहां सर्व साधारण के लिये उसका स्थूल सा रूप प्रकट किया जाता है।

'निरोध के समय प्राण कितनी दूर तक फैला' इस विषय का निरीक्षण, देश का परिमापण है। प्राण जितनी दूर तक फैलता है, शरीर के उतने भाग में चींटियें सी चलती प्रतीत होने लगती हैं। यही प्राण के विस्तार की पहिचान है। निरोध कितने क्षण तक रहा यह उसके काल का परिमा-

पण है। और निरोध काल में मंत्र की कितनी आवृत्तियें कर सके, यह उसकी संख्या का परिमापण है।

इसके अतिरिक्त निरोध की दीर्घता और सूक्ष्मता का भी अवलोकन आवश्यक है। देश, काल और संख्या से परिदृष्ट किसी निरोध के देश, काल और संख्या के बढ़ाने का प्रयत्न दूसरे दिन ही आरम्भ नहीं कर देना चाहिय। उसे उसी अवस्था में अभ्यस्त करने के लिये कुछ दिन अवश्य लगाने चाहियें। इस काल की लम्बाई का नाम ही दीर्घता है। फिर उसका इतना अभ्यास हो जाना चाहिये कि अभ्यासी को पता भी न लगे कि मैं प्राणायाम कर रहा हूं। किसी प्रकार के भी कष्ट का अनुभव प्राणायाम करते हुए न हो। इस अनुभव के अभाव को यहां सूक्ष्म कहा है। इन तीन प्राणायामों के अतिरिक्त—

"बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः"

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही के, देश, काल, संख्या आदि से परिमित विषय का भली भाँति आलोचन करते हुए, उस भूमि को छोड़ कर, उससे अग्रिम भूमि को लक्ष्य में रख क्रम से श्वास और प्रश्वास दोनों का निरोध "बाह्या भ्यन्तर विषयाक्षेपी" प्राणायाम है। यह पूर्ण प्राणायाम है।

यद्यपि स्तम्भवृत्ति में भी श्वास और प्रश्वास दोनों का ही निरोध करना पड़ता है, परन्तु इस में और चतुर्थ प्राणायाम में बड़ा अन्तर है। स्तम्भवृत्ति में श्वास और प्रश्वास के विषय की आलोचना किये बिना ही उन्हें रोक दिया गया था, परन्तु यहां श्वास और प्रश्वास के विषय—देश काल और संख्या, की आलोचना करते हुए, उन दोनों को युगपत् नहीं, क्रम से रोकना पड़ता है।

इस प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है। प्रथम श्वास को अन्दर लेजाते हुए यह देखना चाहिये कि उसे फुफ्फुसों में भरने के लिये कितने क्षण व्यय किये गये है। यह श्वास के काल का दर्शन है। श्वास को अन्दर भरते समय मन्त्र का मानसिक उच्चारण कितनी बार किया जा सका है, इस विषय का दर्शन श्वास की संख्या का आलोचन है। श्वास के फुफ्फुसों में भर लेने पर, प्राण·सूत्रों मे प्राण के विस्तार का दर्शन श्वास के देश की आलोचना है। देश की परीक्षा उसी प्रकार की जाती है जेसे कि हम बाह्य वृत्ति में लिख आये है।

प्रश्वास की भी शेष दो आलोचनायें तो श्वास की आलोचना-विधि के अनुसार ही हैं। हां देश की आलोचना में भेद है। यहां बाहर के देश का पता लगाना पड़ता है कि नासिका से निकलते हुए प्रश्वास·का प्रभाव बाहर के प्रदेश

पर कहाँ तक पड़ा। यह परीक्षा इसलिये की जाती है कि प्राण जितना शनैः २ और सूक्ष्म करके निकाला जायेगा, उतना ही उसका प्रभाव निकट देश तक होगा। और प्रभाव जितना अधिक निकट देश तक पड़ेगा उतना ही लाभदायक है।

इस प्रकार विषय की आलोचना करते हुए श्वास को अन्दर भरने के बाद, उसका निरोध कर दिया जाता है और प्राण को बाहर निकालते समय फिर उसके विषय की आलोचना उसी प्रकार करनी पड़ती है। और फिर इस प्रश्वास को भी बाहर ही रोक दिया जाता। इस प्रकार इस प्रक्रिया को कई बार करना पड़ता है। अब पाठक समझ गये होंगे कि इस चतुर्थ प्राणायाम में श्वास और प्रश्वास का निरोध, इनके विषय की आलोचना करते हुए क्रम से करना पड़ता है। और स्तम्भ वृत्ति में विषय की आलोचना

किये बिना ही युगपत् निरोध किया जाता है।

प्राणायाम के शारीरिक और आत्मिक दोनों ही लाभ हैं। हमारे भोजन से जो रक्त बनता है, उस में ऐसे कितने ही अणु होते हैं जो शरीर को हानि पहुंचाने वाले हैं। वह रक्त शिराओं द्वारा फुप्फुस में जाता है और वहाँ जाकर साफ होता है। फुप्फुस उन विषैले अणुओं को अपने पास रख लेता है और शुद्ध रक्त को हृदय में भेज देता है। श्वास के द्वारा जो वायु फुप्फुसों में जाता है, वह प्रश्वास के द्वारा उन विषैले अणुओं को साथ लेकर बाहर निकल आता है। प्राणायाम करते हुए श्वास फुप्फुसों में बल पूर्वक भरा जाता है और कुछ देर तक रखा जाता है। यह गम्भीर श्वास फुप्फुस के प्रत्येक कोने में फैल जाता है, और उसके किसी भी कोने में विषैले अणुओं को रहने नहीं देता। साधारण श्वास प्रश्वास सारे फुप्फुसों में व्याप्त होकर

उसे शुद्ध नहीं कर सकते। सम्पूर्ण फुफ्फुसों के शुद्ध हो जाने पर शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में शरीर में जाता है। शरीर की पुष्टि शुद्ध रक्त के ही आधार पर है, अतः प्राणायम शरीर को पुष्ट करता है।

प्राणायाम के द्वारा श्वास फुफ्फुसों में भर जाता है। इसी अवसर में कुछ बचा हुआ श्वास टेंटुवे में से निकल कर अन्न प्रनाली के द्वारा उदर में भी चला जाता है। वह वायु अन्तड़ियों में पहुँच कर मल को पूर्णतया बाहर निकाल देता है। इस प्रकार प्राणायाम भली भांति नियम पूर्वक करने वाले को 'मूलबन्ध' का रोग नहीं होता। यह वायु अधिक मात्रा में पहुँचने पर अपान को भी निकाल बाहर करता है और फिर कुछ काल के बाद, अपान और मल के, पेट में देर तक न ठहरने के कारण प्राणायाम के अभ्यासी पुरुष के अपान वायु में दुर्गन्धि नहीं

रहती। शरीर के अनेक रोग मलबन्ध से होते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम का अभ्यासी बहुत नीरोग रहता है। इस प्रकार शरीर-पुष्टि की दृष्टि से प्राणायाम के अनेक लाभ हैं।

प्राणायाम के आत्मिक उन्नति की दृष्टि से भी अनेक लाभ हैं। हम पहिले निवेदन कर आये हैं कि प्राण और अन्तःकरण प्राण सूत्रों के द्वारा शरीर के सब अवयवों में फैले हुए हैं। इन दोनों के प्रधान तत्त्व मस्तिष्क में है, और मस्तिष्क ही इनका प्रधान केन्द्र हैं। प्राण के निरोध का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर नाभि के नीचे का अपान ऊपर को खिंचना आरम्भ होता है। इस से आगे क्या होता है यह हम निश्चय पूर्वक तो नहीं कह सकते। क्यों कि आज कल के शरीर विज्ञान वेत्ताओं ने नाभि के नीचे किसी कुण्डलिनी नामक अङ्ग का वर्णन नहीं किया। परन्तु बहुत सम्भव है कि

अभ्यासी लोग कुण्डलिनी का जैसा स्वरूप बत-लाते हैं, छेदन क्रिया के बाद वह नष्ट भ्रष्ट ही हो जाती है। अतः यहां पर हम इसके सम्बन्ध में अभ्यासी लोगों का अनुभव ही लिखे देते हैं।

कुण्डलिनी एक बाल के शतांश भाग के समान सूक्ष्म रक्त वर्ण का नाभि के नीचे के भाग में दो तीन लपेट दिये हुए, एक तन्तु के समान अङ्ग है। उसका मुख सुषुम्णा के मुख में है। अपान के ऊर्ध्वगति होने पर इसके लपेट उसकी ठोकर लगने से खुल जाते हैं और यह अङ्ग सुषुम्णा के छिद्र द्वारा ऊपर मस्तिष्क में चला जाता है। मार्ग में जो जो रुकावट के स्थान हैं उन्हें चक्र कहा गया है। उनके खुल जाने पर प्राण सीधा मस्तिष्क में षुसुम्णा मार्ग से चला जाता है। विभिन्न चक्रों में प्राण की सत्ता के काल में विभिन्न प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं, और मार्ग खुल जाने से प्रकाश प्रकट

हो जाता है और चित्त की वृत्तियें रुक जाती हैं। वृत्तियों के रुक जाने पर सम्पूर्ण शरीर में व्यापक प्राण सूत्रों से प्राण भी मस्तिष्क की ओर गति करना आरम्भ कर देते हैं, और प्राण निरोध हो जाता है।

इस प्रकार प्राण प्रकाश का आवरण नष्ट करने में सहायक होता है और आत्मिक उन्नति का साधन है। कुण्डलिनी यदि कोई अङ्ग न भी हो तब भी सुषुम्णा की मल शुद्धि का हमारा पूर्वोक्त प्रकार प्राण की ऊर्ध्वगति में सहायक है।

ऋषि पतञ्जलि ने प्राणायाम का क्रम चौथे स्थान पर रक्खा है। प्रथम—यम फिर नियम और फिर आसन का विधान है। इसके बाद प्राणायाम का क्रम आता है। अब देखना यह है कि प्राणायाम की योग्यता सम्पादन करने के लिये महर्षि ने सन्ध्या में किन कर्मों का उपदेश किया है, जिनके करने से यम आदि कर्मों का

उद्देश पूरा होसके।

प्राणायाम से प्रथम अङ्गन्यास और मार्जन का विधान है। मनुष्य को दो वस्तुओं की आवश्यकता है। एक तो सम्मान पूर्वक जीवन निर्वाह की, और एक परमानन्द के भण्डार परमेश्वर के साक्षात्कार को। सम्मान पूर्वक जीवन निर्वाह का उपाय अङ्ग स्पर्श में बतलाया गया है। अङ्गन्यास वाक्यों के, क्रम से भाव इस प्रकार है—हमारी वाणी के अन्दर यथार्थ भावों के वीरता पूर्वक प्रकाशन की शक्ति हो। प्राण शरीर में बल के उत्पन्न करने वाले हों। नेत्र भगवान् की विचित्र रचना में सृष्टि नियम का निरीक्षण कर, मन को उससे उपदेश लेने का आदेश करें। श्रोत्र भगवान् की वेद गीति के गान सुन मनको उसके आदेशानुसार चलने की प्रेरणा करे। जननेन्द्रिय कामवासनाओं से लिप्त न होकर वीर और धीर सन्तान उत्पन्न करने का साधन बने। हृदय के

अन्दर दीनों के लिये दया और दुर्जनों के दमन का भाव उत्पन्न हो। कण्ठ भगवद्गुण गान के मधुर स्वर का आलाप करे। मस्तिष्क में जीवन-पथ के निर्णय का सामर्थ्य हो। भुजाएं संसार की रङ्गस्थली में विजय-लाभ कर यश की पताका उड़ाएं। हम अपने मित्रों और संसार के दूसरे व्यवहारिक लोगों से, सीधा हाथ करके लेने और उलटा हाथ करके देने में निपुण हों, अर्थात् हमारे लेनदेन मे दक्षता और सचाई हो। लौकिक जीवन में मिठास उत्पन्न करने के लिये यह कैसा सुन्दर प्रयोग है। महर्षि ने भी पञ्चमहायज्ञ विधि में इन वाक्यों का लौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति ही उद्देश बतलाया है। उन्हों ने लिखा है—"सर्वदेश्वर

कृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्तित्यभिप्राय:"

"सदा ईश्वर की कृपा से इन्द्रियें बलवान् रहें यह तात्पर्य है"

पाठक गम्भीर दृष्टि से देखेंगे तो अङ्ग स्पर्श की भावना में यम और नियम का पर्याप्त सन्निवेश मिलेगा । बस यहीं से प्राणायाम की योग्यता प्राप्त कराना ऋषि ने आरम्भ कर दिया है।

मार्जन मंत्रों में भी इसी विषय की योग्यता सम्पादन करने का विशेष रूप से यत्न किया गया है। यहां भगवान् के गुण वाचक विभिन्न नामों से प्रभु का चिन्तन करते हुए, शरीर के विभिन्न अङ्गों की शुद्धि का विधान किया गया है। इन वाक्यों में, शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि या जननेन्द्रिय, पैर—और सब अङ्गों के मार्जन का विधान है। कण्ठ शब्द से यहां कण्ठ से निकलने वाली वाणी का ग्रहण है। यम पांच हैं। उनमें से अहिंसा का सम्बन्ध मन वाणी और हाथों से है। सत्य का सम्बन्ध मन और वाणी से है। अस्तेय का सम्बन्ध मन और हाथों से है। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध सामान्य रूप से सब अङ्गों

से और विशेष रूप से जननेन्द्रिय से है। अपरिग्रह का सम्बन्ध मन और हाथों से है। नियम भी पांच हैं। उन में से शौच का सम्बन्ध मन वाणी और सब अङ्गों से है। सन्तोष का सम्बन्ध मन से है। तप का सम्बन्ध भी सब अङ्गों से है। स्वाध्याय का सम्बन्ध भी मन और वाणी से है। ईश्वर-प्रणिधान का सम्बन्ध मन से है। इस प्रकार उपर्युक्त अङ्गों का मार्जन करने से यम और नियम का कार्य पूरा होजाता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि इन अङ्गों का मार्जन जल का छींटा देने से ही नहीं होजावेगा। जल तो दृष्टान्त रूप से बाह्य शुद्धि का एक साधन दिखला दिया गया है। इन अङ्गों का मार्जन तो इनके धर्मानुकूल सञ्चालन से होता है।

यम और नियम के बाद आसन के भी परिपक्व होने की आवश्यकता है। जो मनुष्य पांच मिनट स्थिर होकर बैठ नहीं सकते वे प्राण

और मन का निरोध क्या करेंगे। शरीर का निश्चल रहना भी प्राणायाम के लिये एक साधन है। फिर वह आसन चाहे कोई भी हो। हां वह आसन ऐसा अवश्य होना चाहिये जिससे शरीर सीधा रहे।

आसन का निर्देश भी इन्हीं आठ वाक्यों में आगया है। इनमें से एक वाक्य है "ओं तपः पुनातु पादयोः" (तप पैरों को पवित्र करे)। यद्यपि तप का सम्बन्ध शरीर के सब अङ्गों से है। परन्तु यहां उसका सम्बन्ध केवल पैरों से जोड़ा गया है। इस में क्या रहस्य है? यह पैरों द्वारा होने वाली एक विशेष क्रिया का विधान है। और वह क्रिया है आसन। तप और आसन के फल की एकता को देख कर भी यहां आसन का निर्देश समझा जा सकता है। तप से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों के जीतने की योग्यता प्राप्त होती है। और आसन का फल

भी ऋषि पतञ्जलि ने यह ही लिखा है। उनका सूत्र है—"द्वन्द्वानभिघातः"—आसन की सिद्धि से शीतता, उष्णता आदि द्वन्द्व नहीं सताते।

इस प्रकार यम-नियम और आसन का प्रकारान्तर से विधान प्राणायाम से पूर्व सन्ध्या में भी किया गया है।

प्राणायाम मन्त्र

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

इन मन्त्रों के ईश्वर परक भाव

(ओं) परमात्मा का सर्व गुण बोधक नाम है। (भूः) प्राण = जीवन दाता भगवान। (भुवः) अपान = दुःख विनाशक भगवान्। (स्वः) व्यान = गति दाता भगवान्। (महः) पूज्य सबसे बड़ा भगवान्। (जनः) उत्पादक भगवान्। तपः पाप का फल देकर दुष्टों को तपाने वाले भगवान्

(सत्यम्) सर्वदा एक रस अविनाशी भगवान् ।

इन मन्त्रों के अध्यात्म अङ्ग परक भाव

(भूः) प्राण=प्राण निरोध का प्रधान केन्द्र शिर । (भुवः) अपान=अपनीत किया हुआ (अपने विषय से हटाया हुआ) प्राण निरोध का साधन चक्षुः । (स्वः) व्यान=(अपने अन्दर से निकलने वाली वाणी का) व्यान=विशेष रूप से भक्षण करने वाला=उसके निरोध द्वारा प्राण निरोध की सहायता करने वाला, कण्ठ । (महः) पूज्य=स्तब्ध किया हुआ प्राण निरोध में सहायक हृदय । (जनः) पीछे को आकर्षित किया हुआ प्राण निरोध में सहायक नाभि चक्र । (तपः) क्लेश सहन कर आसन के लिये स्थिर किये हुए पैर । (सत्य) प्राण निरोध का यथार्थ मुख्य साधन शिर ।

भावार्थ

प्राणायाम में सफलता प्राप्त करने के लिये सब से प्रथम भगवान् का चिन्तन अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये प्राणायाम काल में पूर्वोक्त मन्त्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् का स्मरण करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त जिन अङ्गों का प्रथम मार्जन किया है उनमें भी इन मन्त्रों द्वारा विशेष प्रकार की क्रियाएं आवश्यक हैं। शिर के ज्ञान-केन्द्र में ये भाव भरने चाहियें कि मैं सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत प्राणतन्तुओं में व्यापक प्राण का मस्तिष्क में आकर्षण कर रहा हूं। नेत्रों की ग्राहक शक्ति को बाह्य प्रकाश से हटा कर अन्तर्मुख कर देना चाहिये। ठोडी को कण्ठ के साथ लगा देना चाहिये, और किसी भी विचार के लिये प्रकट हुए शब्द जाल का कण्ठ में ही अन्त कर देना चाहिये। हृदय को यथा सम्भव स्तब्ध

करने का यत्न किया जावे। नाभिचक्र और उसके नीचे के भाग को पीछे को खींचा जावे। कम से कम एक घण्टे तक शरीर को सीधा और निश्चल रखते हुए एक आसन से बैठने का अभ्यास किया जावे। ऐसा करने पर भगवान् की दया से और अपने पुरुषार्थ से उपासक प्राण के निरोध में सफल होकर आध्यात्मिक उन्नति का लाभ करेगा।

अघमर्षण

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतोवशी ॥२॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्ष मथो स्वः ॥३॥

ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८ मं० १०६

शब्दार्थ

अन्तःकरण में, (ऋतञ्च) ज्ञान और (सत्यञ्च) सत्य भी (अभीद्धात्) सर्वतः समृद्ध (तपसः) तप से (अजायत) उत्पन्न होते हैं। (ततः) इस के बाद (समुद्रः) हृदयाकाश (अर्णव) शान्ति जल का भण्डार, बनता है। (समुद्रादर्णवात्) उस शान्ति के भण्डार हृदयाकाश से, हृदय (अधिसंवत्सरः) संसार के सब प्राणियों को अपने अन्दर बसाने वाला बनता है। (वशी) अपनी इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाला (धाता) अपनी अध्यात्म शक्तियों का पोषण करने वाला, जीवात्मा (अहोरात्राणि) अपने दिन और रातों को (विश्वस्य) सब जगत् के (मिषतः) हित के लिये (विदधत्) लगाता हुआ, अपने (सूर्याचन्द्रमसौ) नेत्र, वाणी और श्रोत्र को (दिवञ्च पृथिवीञ्च) मस्तिष्क और पैरों को तथा (अन्तरिक्षं) शरीर

के मध्य भाग को (अथो) और (स्वः) अपने आत्मानन्द को (यथा पूर्वं) प्राथमिक जीवन्मुक्ति दशा में जिस रूप में थे उसी रूप में (अकल्पयत्) बना देता है।

विशेष वक्तव्य

रात्रि शब्द की उत्पत्ति रा धातु से हुई है। और रा का अर्थ देना है, इस लिये यहां रात्रि का अर्थ दान की शक्ति किया गया है। निशा काल का नाम भी रात्रि इसी लिये पड़ा है कि वह दिन में थके हुए प्राणियों को विश्राम देती है। समुद्र शब्द वैदिक भाषा में आकाश के लिये भी व्यवहार में आता है। इस लिये यहां आध्यात्मिक भाव में इस का हृदयाकाश अर्थ किया है। अधिसंवत्सर पद अधि और सम् उपसर्ग साथ जोड़ कर वस धातु से बनाया गया है। अधि का अर्थ अन्दर, सम् का अर्थ भली प्रकार और वस् का अर्थ निवास करना है। इसी लिये

इस शब्द का अर्थ "अपने अन्दर भली भांति बसाने वाला किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सूर्य और चन्द्रमा शब्द आध्यात्मिक अर्थों में नेत्र और श्रोत्र के लिये आये हैं। वाणी के लिये वहां अग्नि शब्द का प्रयोग किया है। अग्नि भी तैजस है और सूर्य भी। इस लिये हम ने इस मन्त्र में पठित. सूर्य शब्द के तन्त्रवृत्ति से नेत्र और वाणी दोनों अर्थ कर दिये हैं। चन्द्रमा शब्द का श्रोत्र अर्थ भी छान्दोग्य के अनुसार कर दिया है। छान्दोग्य के वाक्य नीचे पढ़िये—

स योऽस्य प्राङ् सुषिः प्राणः, तच्चक्षुः स आदित्यः। अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः। छा० प्र० ३ खं० १३ मं० १-२-३।

वह जो इस हृदय का पूर्व देव द्वार है, वह चक्षु नामक प्राण है, उसे आदित्य भी कहते हैं। और जो दक्षिण देव द्वार श्रोत्र नामक व्यान है, उसे चन्द्रमा भी कहते हैं। और जो वाक् नामक पश्चिम देव द्वार अपान है, उसे अग्नि भी कहते हैं।

दिव्, पृथिवी और अन्तरिक्ष पद के अर्थ यहां शिर, पैर और धड़ किये गये हैं। इन आध्यात्मिक अङ्गों के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध, यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय में मिलता है। यथा—

"नाभ्या आसीदन्तरिक्ष ँ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिः" ॥

य० अ० ३१ मं० १३।

अन्तरिक्ष नाभि स्थानीय, दिव् शिरः स्थानीय और पृथिवी पाद स्थानीय है। स्वर् शब्द

सुख के लिये प्रयुक्त होता है, इसी लिये इस का यहां आत्मानन्द अर्थ किया है।

भावार्थ

उपर्युक्त तीन मन्त्रों का विनियोग, अघमर्षण विधि में किया है। अघमर्षण का अर्थ पापों का प्रक्षालन करना है। इन मन्त्रों से पापों का मार्जन होता है, यह जान कर उपासक को सुतरां यह जानने की इच्छा होती है कि पापों का प्रक्षालन इन मन्त्रों द्वारा किस प्रकार होता है। इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार दिया जा सक्ता है, एक तो साधन के उल्लेख द्वारा, और दूसरा पाप नाश को प्रक्रिया के प्रदर्शन से। इन मन्त्रों में दोनों ही प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। पाप वासनाओं का उन्मूलन करने के लिये दो प्रकार के साधन काम में लाये जाते हैं। एक ईश्वर प्रणिधान करने के और दूसरा तपश्चर्या। ईश्वर प्रणिधान करने के लिये, प्रभु की

शक्तियों का बार २ चिन्तन कर उसके महत्व से आत्मा को प्रभावित करना पड़ता है। पाप नाश के इसी साधन को उपासकों के हृदय में अङ्कित करने के लिये पूज्य महर्षि ने पञ्च-महा-यज्ञ-विधि में इन मन्त्रोंको आधि दैविक व्याख्या की है। ईश्वर के रचित इस विशाल संसार को देख कर सहसा उपासक के हृदय में निम्न भावनाओं का उत्पन्न होना अनिवार्य है। "सृष्टि रचना की कल्पनातीत सामग्री को भगवान् ने, क्रीड़ा मात्र से बात की बात में अपने किसी प्रयोजन के विना, जीवों के उपकारार्थ, अनन्त रूपों और नामों के आकार में विभक्त कर दिया। अहो! भगवान् की शक्तियां अनन्त हैं। उसकी दया का भण्डार अपार है। मैं उसके एक पत्ते की भी रचना को समझने में असमर्थ हूं। मैं तो उस प्रभु के सामने वैसा ही हूं, जैसे सूर्य के सम्मुख खद्योत"। इन

भावनाओं का बार २ चिन्तन कर उपासक भगवान् के गुणों की ओर आकर्षित होता है, और अपनी निर्बलताओं को दूर करने के लिये, उसका आश्रय लेने और उसकी शक्तियों से शक्तिशाली बनने का यत्न करता है। यह पापनाश के एक साधन ईश्वर प्रणिधान का लाभ है।

परन्तु इसके अतिरिक्त पाप नाश का एक और भी साधन है। जिसके कि द्वारा आत्मा में वह तरङ्ग पैदा कर दी जाती। और वह साधन है तप। तपश्चर्याके द्वारा मनुष्य किस क्रमसे उन्नत होता चला जाता है, इस लिये इसी प्रक्रिया का निर्देश इन मन्त्रों के आध्यात्मिक भावों में किया गया है। तप किसी एक ही कर्म का नाम नहीं है। तप शब्द तप धातु से बना है। और इसका अर्थ "सन्ताप देना" है। तात्पर्य यह है कि शरीर की सब शक्तियों को उनके स्वच्छन्द प्रवाह से रोक कर अन्तर्मुख करने के लिये मन और इन्द्रियों

को विषय वासना से हटा कर आत्म चिन्तन में लगाने के लिये, निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है, और अनेक क्लेश उठाने पड़ते है। इन क्लेशों के उदारता पूर्वक सहन करते हुए अपने मार्ग में उत्साह से आगे बढ़ने की धारणा रखना ही तप है।

तप मनुष्य को कुन्दन बना देता है। उसके मन वाणी और कर्म तप की महिमा से एक ही भाव के अनुसारी होजाते हैं। मन, वाणी और कर्म में एक ही भावना की छाप लगाना साधारण कार्य नहीं है। इसके लिये मनुष्य को निरन्तर परिश्रम करना पड़ता है। इस भावना का नाम ही सत्य है। और इस सत्य की उत्पत्ति तप से होती है।

विषय वासना के जाल में फंस कर मनुष्य वस्तु के यथार्थ रूप को जानने में असमर्थ रहता है। राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रु उसे भूल-

भुलैयां में डाल कर, वस्तु के वास्तविक रूप को उसकी आंखों से ओझल कर देते हैं। उसके ऊपर मैं और मेरे पन का मुलम्मा चढ़ा कर उसे और से और ही बना देते है। तपश्चर्या से यह भूल भुलैयां दूर हो जाती है। अज्ञान का संहार और ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार सत्य के अतिरिक्त दूसरा एक और गुण "ज्ञान" भी तप से ही उत्पन्न होता है।

सत्य और ज्ञान ही आत्मा की वास्तविक सम्पत्तियें हैं। जब तक उसके पास इनका भण्डार नहीं तब तक उसकी गठरिया खाली है। उसके अन्तः करण के कोष में तब तक एक पैसा भी नहीं है। और जिसके अपने घर मे एक फूटी-कौड़ी भी नहीं वह दूसरे को देगा क्या। परन्तु सत्य और ज्ञान की उत्पत्ति के बाद आत्मा का कोष भरकर अक्षय होजाता है और उससे महत्व को जान कर मनुष्य उसे दूसरों को बांटने के लिये

उतावला हो जाता है। अब उस के अन्दर दान को शक्ति और अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्ति का नाम रात्रि है=दान शक्ति है।

इस शक्ति के उत्पन्न होजाने पर उपासक दिल खोल कर देता है। अपने इस कर्तव्य का पालन करने पर उसे सन्तोष होता है। उसके हृदय सागर में शान्ति को गम्भीर तथा प्रशान्त तरङ्ग हिलोरे मारने लगती हैं। प्रबल से प्रबल संसार की ठोकर भी अब उसे अपने स्थान से विचलित नहीं कर सकी क्रूर से क्रूर प्राणी के प्रतप्त आत्मा को भी उसके शान्ति जल की वर्षा से अपना स्वभाव छोड़ना पड़ता है। उस के प्रभाव की छाया में आकर विरोधी विरोध छोड़ देते हैं। इसी शान्ति के सतत अभ्यास से उसके अन्तःकरण में विशाल अवकाश का प्रादुर्भाव होता है। वह अवकाश इतना विस्तृत होता है कि उस में संसार के छोटे से लेकर

बड़े तक सब प्राणियों का आसन बिछा होता है। सब प्राणियों के क्लेश और आनन्द की तरंगें उसके अन्तःकरण की तरङ्गों से टकराने लगती हैं। और उनके क्लेश और आनन्द को अनुभव कर वह उन्हें अपने समझने के लिये विवश हो जाता है।

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति,
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते"

(जो सब भूतों को अपनी आत्मा के अन्दर और अपनी आत्मा को सब भूतों के अन्दर देखता है वह प्रशंसनीय है) यह उपनिषद् का उपदेश उसकी आंखों के सामने अब नाचा करता है। उन सब प्राणियों के क्लेश को दूर करने की अभिलाषा उसके हृदय में जागृत हो जाती है। यह ही हृदय का "अधिसंवत्सर" भाव है।

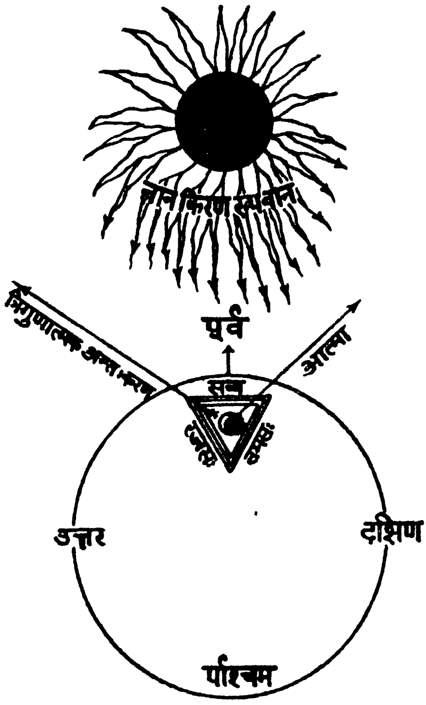
इस भाव के जागृत हो जाने पर उपासक

अपने दिन और रात्रि के सब काल को इन सब प्राणियों के हित के लिये अर्पण कर देता है। उसे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सर्वथा भूल जाता है। इस अवस्था में दूसरों के क्लेशों का दूर करना ही उसका अपना स्वार्थ होता है। इस का अपना कर्तव्य कुछ रह भी नहीं जाता, परन्तु फिर भी दूसरो की सहायता के लिये और भी प्रबल वेग से कर्म करता है। महात्मा व्यास जी ने भी गीता में महात्मा कृष्ण के शब्दों में इसी भाव को प्रकट किया है। लिखा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

हे अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया। कोई वस्तु प्राप्तव्य भी नहीं रही जिसकी प्राप्ति के लिये कर्म करूं। परन्तु फिर भी कर्म करता ही हूं।

अपने सब समय को परोपकार में लगाता हुआ उपासक, अपने नेत्र, वाणी और श्रोत्र की सब चेष्टाओं को दूसरों के हित के लिये ही करता है। वह पैरों से दीन दुःखियों और अज्ञानियों के उपकार को ध्यान में रखकर चलता है। मस्तिष्क के ज्ञान तन्तुओं और बुद्धि से भी उन्हीं प्राणियों के हित का निर्णय करता है। मन से उन्हीं के श्रेय का चिन्तन करता है। और भुजाओं के बल का उन्हीं के लिये प्रयोग करता। यहां तक कि वह अपने सर्वस्व आत्मानन्द को भी अपने प्रिय दुःखी प्राणियों के लिये न्योछावर करने के लिये कटि-बद्ध होजाता है। व्यवहार की यह निराली झलक महात्मा बुद्ध और ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुषों के जीवन में चमकती हुई स्पष्ट दिखाई देती है। जो उपासक तपोमय जीवन को धारण कर इस क्रमिक उन्नति को ध्यान


त्रिगुणात्मक
पूर्व
आत्मा
सत्व
उत्तर
दक्षिण
पश्चिम

में रखते हुए अपनी जीवन यात्रा का आरम्भ करते हैं, वे अपनी आत्मा के अन्दर अघमर्षण का जीवित दृश्य देखते हैं।

मनसा परिक्रमा–ऋषि व्याख्या

मनसा परिक्रमा के द्वारा भी पूज्य महर्षिने मनुष्य को ईश्वर प्रणिधान की ओर आकर्षित करने का यत्न किया है। अघमर्षण भगवान् का विचित्र रचना का महत्व उपासक के हृदय में बैठाया गया था। और मनसा परिक्रमा मन्त्रों की ईश्वर परक व्याख्या के द्वारा ऋषि ने उपासक के हृदय में, भगवान् के प्रति कृतज्ञता के भाव पैदा करने का दूसरा उपाय प्रकट किया है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट किया है, कि भगवान् अपनी रचित सृष्टि के विभिन्न पदार्थों तथा प्राणियों द्वारा मनुष्य का पालन पोषण किस प्रकार करते हैं। भगवान् की इस निःस्वार्थ करुणा का गान सुन कर उपासक का हृदय

गद्गद् हो जाता है। उस करुणामय दीन बन्धु की गोद में बैठने के लिये वह लालायित हो जाता है। और प्रभु के समीप पहुंचने के लिये उपासना के क्षेत्र में लम्बी दौड़ लगाता है।

मैंने प्रथम निवेदन किया है, कि ऋषि ने सन्ध्यामन्त्रों को व्याख्या ईश्वर परक की है। उनकी व्याख्या में प्रत्येक दिशा का अधिपति विभिन्न रूपों में भगवान् को ही बनाया गया है। रक्षिता भी सब दिशाओं में भिन्न २ रूपों में भगवान् ही हैं। और इषु नाम से वे वस्तुएं प्रकट की गई हैं जिन के द्वारा भगवान् प्राणियों की रक्षा करते हैं।

यद्यपि पञ्च महायज्ञ विधि में आर्य भाषा में "तिरश्चि राजी" और "पृदाकू" को ईश्वर का विशेषण नहीं बनाया गया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा ऋषि की लिखी हुई नहीं है। कारण यह है कि संस्कृत व्याख्या में प्राची

दिशा में ईश्वर का विशेषण असित को बनाया गया है। और उससे अगले मन्त्रों में किसी रक्षिता का व्याख्या ही नहीं की। और जब कि संस्कृत में यह व्याख्या नहीं की गई तो उस की भाषा में भी वैसी ही प्रतिच्छाया होनी चाहिये थी। इससे प्रतीत होता है कि भाषा किसी और ने की है, और भाषा कार ने तिरश्चिराजि और पृदाकू शब्द के अर्थ अपनी ओर से किये हैं। ऋषि के उपक्रम के अनुसार पृदाकू और तिरश्चि राजी शब्द प्रथमान्त ही रहने चाहियें, और ईश्वर के विशेषण होने चाहियें, जैसा कि उन्हों ने असित शब्द में किया है। परन्तु भाषा-कार की व्याख्या के अनुसार उन्हें पञ्चम्यन्त मानना पड़ता है। विभिन्न दिशाओं में ऋषि उपक्रम के अनुसार इन शब्दों के अर्थ निम्नलिखित होने चाहियें।

(प्राचोदिक्) पूर्व दिशा में (अग्निः) ज्ञान-

स्वरूप और (असितः) बन्धन रहित परमात्मा अधिष्ठाता तथा रक्षक हैं । और (आदित्याः) प्राण शक्तियें या सूर्य की किरणें (इषवः) बाण या साधन हैं ।

दक्षिण दिशा में (इन्द्र) ऐश्वर्ययुक्त और (तिरश्चिराजी) सब कुटिल शक्तियों पर राज्य या शासन करने वाला—उन्हें अपनी शक्ति से दबाने वाला, परमेश्वर अधिष्ठाता और रक्षक है । (पितरः) पालक महा पुरुष (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं ।

पश्चिम दिशा में (वरुण) सर्वोत्तम और (पृदाकू) भयङ्कर गर्जन करने वाला–दुष्टों के दण्ड की व्यवस्था देने वाला, परमेश्वर अधिष्ठाता तथा रक्षक है । और (अन्नम्) भोज्य पदार्थ (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं ।

उत्तर दिशा में (सोम) सब जगत् का उत्पादक और (स्वजः) अजन्मा, ईश्वर अधि·

प्राता और रक्षक है। और (अशनिः) विद्युत् (इषवः) बाण या रक्षा के साधन है।

ध्रुव दिशा में (विष्णुः) व्यापक और (कल्माष ग्रीवः) चित्र ग्रीवा वाला परमेश्वर अधिपति तथा रक्षक है। यह विराट् जगत् भगवान् का शरार है। द्युलोक शिर की और पृथिवी पैरों की जगह है। द्युलोक के नीचे का भाग अन्तरिक्ष है वह मानो भगवान् की ग्रीवा है। उसी के अन्दर शोभायमान अनेक प्रकार के रंग बिरंगे फल फूल और पत्ते मानो भगवान् की ग्रीवा का कल्माप या चित्र बना रहे हैं। (वीरुधः) बेल आदि वनस्पतियें (इषवः) बाण या रक्षा के साधन हैं।

ऊर्ध्व दिशा में (बृहस्पतिः) वाणी, वेद शास्त्र और आकाशादि बड़े २ शक्तियों का स्वामी और (श्वित्रः) विशुद्ध परमात्मा अधिष्ठाता तथा

रक्षक है। (वर्ष और वृष्टि इषवः) बाण या रक्षा का साधन है।

ऋषि की व्याख्या में भिन्न २ अधिपति और रक्षिता गुण कर्मानुसार भगवान् के ही नाम हैं। और भिन्न २ दिशाओं के "इषु" विभिन्न अवस्थाओं में रक्षा के साधन हैं।

इन साधनों का भी अपनी २ दिशा के साथ विशेष सम्बन्ध है। पूर्व दिशा में उदय होने के कारण आदित्य का इस दिशा के साथ विशेष सम्बन्ध है। दक्षिण दिशा के साथ पोषण और क्षीणता का सम्बन्ध है। दक्षिण दिशा में जाकर सूर्य की शक्तियां पोषक तथा क्षीण हो जाती हैं। यद्यपि शक्तियां वैसी ही रहती हैं, परन्तु पृथिवी पर उनके प्रभाव को ध्यान में रख कर इस विचार को जन्म दिया गया है। दक्षिण में सूर्य देव शीत ऋतु में होते हैं, और इसी ऋतु में सूर्य देव की किरण क्षीण शक्ति, परन्तु

मनुष्यों की शारीरिक शक्तियों का पोषण करने वाली होती हैं। ठीक इसी प्रकार बड़ी आयु में वानप्रस्थ आदि पितरों का शारीरिक शक्तियां निर्बल हो जाती हैं, परन्तु वे अपने विज्ञान और अनुभव के द्वारा जाति का पालन पोषण करती है। इसी भाव को ध्यान में रखकर दक्षिण दिशा के साथ पितरों का सम्बन्ध जोड़ा गया है। क्षीणता की दृष्टि से ही पितरों का चन्द्रमा के क्षयकाल—कृष्णपक्ष के साथ सम्बन्ध है। पश्चिम का वायु चलने पर अन्न ठीक पकते हैं, इसी कारण से अन्न को पश्चिम दिशा में दिखलाया गया है। उत्तर दिशा के साथ विद्युत का विशेष सम्बंध वैज्ञानिक लोग मानते ही हैं। नीचे की दिशा के साथ बेल और वनस्पतियों का साक्षात् ही सम्बंध है। ऊपर की दिशा के साथ वर्षा का सम्बंध कृषक लोग भी जानते ही हैं।

इस प्रकार पूज्य महर्षि का व्याख्यान युक्ति-युक्त तथा वैज्ञानिक है। 'भगवान् अपनी अनेक शक्तियों से, संसार के ही साधनों द्वारा संसार के प्राणियों का पोषण कैसी उत्तमता से कर रहे हैं।" इस विषय का इस व्याख्या में मात्र पूर्ण मनोहर विवेचन है। न यहां सर्पों को नमस्कार है, और न कहीं असम्बद्धता की छाया दृष्टि गोचर होती है। इस सुन्दर व्याख्या के होते हुए और किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हम केवल पाठकों के मनो विनोद के लिये, तथा ऋषि के निर्दिष्ट ईश्वर प्रणिधान द्वारा आत्मा की क्रमिक उन्नति को विभिन्न अवस्थाओं में क्रम दिखलाने के लिये, कुछ पङ्क्तियां कुछ सज्जनों की प्रेरणानुसार नीचे लिखने का यत्न करेंगे।

सामान्य वक्तव्य

मनसा परिक्रमा का अर्थ है "मन के द्वारा परिक्रमा"। ऋषि के कार्य काल से पूर्व भी लोग

सन्ध्या काल में सूर्य की परिक्रमा किया करते थे। सूर्य के चारों और घूमना तो टेढ़ी खीर थी, बेचारे एक ही स्थान पर खड़े २ चारों ओर घूम लिया करते थे। लोगों की इस दयनीय दशा को देखकर ही, सम्भवतः "परिक्रमा" के साथ "मनसा" शब्द जोड़ने की ऋषि को आवश्यकता प्रतीत हुई हो। ऐसा न करने पर बहुत सम्भव था कि कालान्तर में लोग, इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अपने मुख को ही छहों दिशाओं में घुमा कर, कर्तव्य की इति श्री समझ लिया करते। यद्यपि ऐसा अब भी सम्भव है, क्योंकि ब्रह्मयज्ञ का दूसरा नाम रखते हुए भी प्राचीन ऋषियों ने "ध्यान" न रख कर "सन्ध्या" रक्खा था। "सम्" शब्द ध्यान में सर्वथा एकाग्रता की विशेषता उत्पन्न कर देता है। परन्तु लाघव प्रिय जनता फिर भी इस नित्य कर्म को पांच सात मिनट में ही समाप्त कर लेती है। ब्रह्मयज्ञ का

प्रत्येक अङ्ग मनुष्य की आत्मिक शक्ति के विकास का साधन है। इस लिये उस का अनुष्ठान एकान्त स्थान में एकाग्र होकर, यथा सम्भव पर्याप्त समय देकर करना चाहिये। मनसा परिक्रमा भी ब्रह्मयज्ञ का एक ऐसा ही अङ्ग है। इसके अनुष्ठान में मन के समाधान की और भी अधिक आवश्यकता है। प्राणायाम अपनी शक्ति से मन को बल पूर्वक भी रोक लेता है। क्योंकि प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये प्राण को रोकने से मन और मन को रोकने से प्राण सुतरां रुक जाते हैं, परन्तु इस विधि में मनका ही सावधानता से समाधान करना पड़ता है। मनसा परिक्रमा मन्त्रों के आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ यदि मिश्रित करने हों, तब तो विभिन्न दिशाओं में कल्पित देवों और प्राणियों के चिन्तन द्वारा, उनके गुणों और व्यवहारों से आत्मोपयोगी लाभ उठाने

के लिये, मन में विभिन्न दिशाओं की भावना करते हुए मनसा परिक्रमा करनी होगी। परन्तु हम इन मन्त्रों के केवल आध्यात्मिक भाव पाठकों की सेवामें भेंट करना चाहते हैं। इस अवस्था में हमारे मनोदेव का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। बाहर की दिशाओं में घूमना तो दूर की बात है, अब तो वह शरीर के अभ्यन्तरीण आध्यात्मिक जगत् से एक इञ्च भी इधर उधर नहीं जा सक्ता। फिर वह परिक्रमा किस प्रकार करेगा? यह बात उसके लिये न नवीन है और न कठिन है। वह तो नित्य परिक्रमा करता है। शय्या पर लेट कर आंखों को बन्द कर लेने पर भी उसकी परिक्रमा समाप्त नहीं होती। वहां भी वह अपने चारों ओर बनी हुई संस्कारों की परिधि का ही चक्कर काटा करता है। परन्तु हम अब इससे अपने ढंग की परिक्रमा कराना चाहते हैं। हम तो मन को परिक्रमा नहीं कराना

चाहते, मन के द्वारा परिक्रमा कराना चाहते हैं, और यही महर्षि के "मनसा परिक्रमा" शब्द क स्वारसिक अ र्थ है। इस परिक्रमा में मन स्वयं नहीं घूमेगा, अपितु मनके द्वारा छ मणकों की एक माला को घुमाया जावेगा। विशेषता यह होगी कि मनोदेव जिस मणके को एक बार हाथ से निकाल देंगे, वह दूसरी बार उसके हाथ में आने न पावेगा। यह परिक्रमा एक, और आरम्भ से अन्त तक एक ही होगी। माला के छ मणके विभिन्न छ दिशाएं या अवस्थाएं हैं। दिक्‌ शब्द का अर्थ यहां अवस्था है। दिक्‌ शब्द दिश्‌ धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है अतिसर्जन या त्याग। इन विभिन्न अवस्थाओं में मन अपनी अनेक प्रकार की वासनाओं का त्याग करता है, अतः इन अवस्थाओं को भी दिक्‌ नाम दे दिया गया है। एक अवस्था को त्याग कर दूसरी को ग्रहण करता हुआ मन, किन २

रूपों को धारण करता है, यह विषय यहां आलङ्कारिक भाषा में प्रकट किया गया है। आत्मा की शक्तियों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, और परमात्मा की दिव्य शक्तियां उसे किस प्रकार की सहायता देती हैं, इस विषय का भी इन मन्त्रां में मनोहर अलाङ्कारिक वर्णन है।

अधिपति शब्द का प्रयोग इन मन्त्रों में उपासक आत्मा के लिये किया गया है। आत्मा आध्यात्मिक जगत् का सञ्चालक है। इसलिये उसे अधिपति कहना सर्वथा सङ्गत है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आत्मा वास्तविक अधिपति उपासक बनने पर ही बनता है। इससे प्रथम तो वह मन और इन्द्रियों के आधीन था=उनका दास था।

अधिपति शब्द का उपासक अर्थ हमने अपनी ही कल्पना से नहीं किया, अथर्ववेद भी

उपासकको अधिपति पदवी देता है।

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः।

अथर्व का. १२ सू. ६ मं ४

ब्रह्म, ज्ञान द्वारा प्राप्तव्य है। और ब्रह्म को प्राप्त करने वाला ब्राह्मण या उपासक अधिपति है। उपासक के लिये ब्राह्मण पद का प्रयोग योग-दर्शन के कैवल्य पाद में उनतीसवें सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी ने भी किया है—

यदायं ब्राह्मणः प्रसङ्ख्यानेऽथ कुसीदः ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते।

जब यह उपासक विवेक ख्याति से भी विरक्त हो जाता है, उससे भी कोई कामना नहीं करता।

यहां ब्राह्मण पद का उपासक के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं लिया जा सक्ता। ऊपर के मन्त्र में भी ब्राह्मण पद उपासक के लिये ही स्वरस

सङ्गत है। और उसी का दूसरा पारिभाषिक नाम अधिपति है।

रक्षिता शब्द का प्रयोग यहां मन के लिये किया गया है। यह शब्द "रक्ष" धातु से बना है इस धातु का अर्थ है "रक्षा करना"। रक्षण क्रिया का यदि विश्लेषण किया जावे तो उस में से दो भाव निकल आते हैं। एक बाहर की शक्तियों को रोकना, और दूसरा अभ्यन्तरीण पुष्टि का प्रबन्ध। उपासक का अन्तःकरण, उसके लिये दोनों ही प्रकार के कार्य करता है। वह उपासक को हानि पहुंचाने वाली बाह्य विषयों की प्रतिच्छाया रूप वासनाओं को रोकता भी है, और उपासक के अन्दर विद्यमान् भगवान् को ज्ञान शक्ति द्वारा उसके ज्ञान का विकास कर उसे समृद्ध भी करता है। आत्मा के उपासक बनने से पहिले अन्तः-करण रक्षिता नहीं था। वह सर्वथा वर्तमान क्रिया

के विपरीत ही कर्म करता था। उस समय इसका काम था, विषय वासनाओं का संग्रह और ज्ञान-शक्ति को आवृत करना।

अथर्ववेद में अन्यत्र भी अन्तः करण को रक्षिता कहा है –

इन्द्रो बलं रक्षितारं दुघानां करेणेव विचकर्ता रवेण। स्वेदाञ्जिभिराशिच्छमा-नोऽरोदयत पणिमागा अमुष्णात्।

अथर्व का० २० सू० ६१ मं० ६॥

(इन्द्रः) आत्मा ने (दुघानां) आत्मिक पूर्णताओं के (बलम्) शक्तिशाली (रक्षितारम्) पुष्ट करने वाले अन्तःकरण को (करेणेव) मानो हाथ से (रवेण) ईश्वर चिन्तनोपयोगी वेद शब्दों से (विचकर्ता) विकृत किया है=पूर्व रूप से वर्तमान रूप में परिणत किया है। (स्वेदाञ्जिभिः) मोक्ष के व्यक्त करने वाले व्यवहारों

से (आशिरं) परिपक्वता को (इच्छमानः) चाहते हुए उसने (पणिम्) मोक्ष विरोधी व्यवहार को (अरोदयत्) रुलाया है=नष्ट किया है। और उन व्यवहारों से आक्रान्त (गाः) प्रकाशों को उनमें (आ अमुष्णान्) सर्वथा छीन लिया है।

वृत्तियों के निरोध और ज्ञान के प्रकाश का कितना स्पष्ट वर्णन है। यहां रक्षिता पद अन्तःकरण के लिये, हां उपासक के अन्तःकरण के लिए कितनी स्पष्टता से प्रयुक्त किया गया है।

इन मन्त्रों के "इषवः" पद का अर्थ हमने परमात्मा को बाण सदृश शक्तियां किया है। इषु शब्द इष् धातु से बनता है। इस धातु का अर्थ है, गति, हिंसा और दर्शन। हमारे इस प्रकरण के लिये दर्शन अर्थ अनुकूल है। दर्शन का अर्थ है देखना। आत्मा परमेश्वर की ज्ञान शक्ति के सहारे से ही शुभ मार्गों को देखता है, इस लिये

इषु शब्द का "परमात्मा की शक्ति" अर्थ व्याकरण सङ्गत है। इस अर्थ में इषु पद का प्रयोग अथर्व वेद में अन्यत्र भी कई स्थानों पर आया है। पाठकों के परिचयार्थ हम इस विषय का प्रतिपादक एक मन्त्र यहाँ उद्धृत किये देते हैं।

उत्तुदस्त्वोत तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि।

अथर्व० का० ३ सू० २५ मं० १॥

हे अविद्या! (उत्तुदः) तुझे उखाड़ने वाला उपासक (त्वा) तुझे (उत्तुदत्) उखाड़ दे। (स्वे शयने) अपने शयन स्थान हृदय में (मा धृथाः) मत ठहर। (कामस्य) शोभनीय भगवान् की (या) जो (भीम) भयानक (इषुः) तीर सदृश ज्ञान शक्ति है, (तया)

उससे (त्वा) तुझ को (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बींधता हूं=उसके द्वारा तेरा समूल नाश करता हूं।

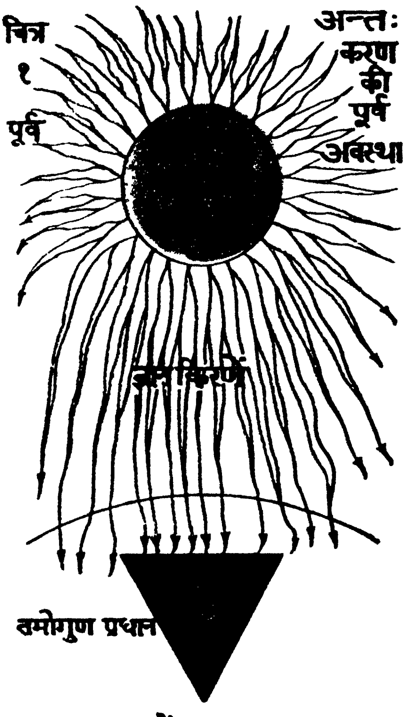
इस मन्त्र के मनन से पाठक समझ गये होंगे कि—"इषवः" पद का "बाण सदृश भगवान की शक्तियां" अर्थ निराधार नहीं है।

परमात्मा की शक्तियों को बाण की उपमा इस लिये दी गई है कि बाण जिस प्रकार अपने लक्ष्य के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, इसी प्रकार वे भी आत्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसके शत्रु कुसंस्कारों का नाश कर देती हैं। इषु शब्द में बहु वचन का प्रयोग परमात्मा की शक्तियों के अनन्तत्व को ध्यान में रख कर किया गया है। नमः से सम्बद्ध अधिपति और रक्षिता शब्दों में भी बहुवचन का प्रयोग किया गया है। यह बहुवचन छहों दिशाओं के अधिपतियों और रक्षिताओं के बुद्धिस्थ परामर्श से किया गया

है। इन सारे ही मन्त्रों के अन्तिम भाग में मन की शुद्धि और आत्मिक उन्नति के लिये साधन भी बतलाया गया है, और वह है द्वेष और अभिमान का परित्याग। शक्ति रहते हुए भी अपने द्वेषी को परमात्मा के न्यायार्थ छोड़ देने पर द्वेष और अभिमान दोनो ही का मान मर्दन हो जाता है। इस गुर को लक्ष्य में रखने वाला उपासक कभी भी पतन की ओर अग्रसर नहीं हो सक्ता। परन्तु यह गुर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने पर ही लागू होता है। लोक व्यवहार के लिये राजनैतिक नियम और भी हैं।

मनसा परिक्रमा का प्रथम मन्त्र

प्राची दिगग्निरधिपति-
रसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम



इस अवस्था में अन्तःकरण वासनामय अन्धकार से परिपूर्ण है इस लिए ज्ञान रूप प्रकाश अन्तःकरण से रुक जाता है और आत्मा तक नहीं पहुंच सकता।

एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।
अथर्व० का–३ अ० ६ व० ३७ मन्त्र १ ॥

शब्दार्थ

उपासक की (प्राची प्रथम (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (अग्निः) अग्नि के समान अल्प प्रकाश वाला है अथवा उन्नति के लिये आगे बढ़ने वाला है। (रक्षिता) मन (असितः) श्याम वर्ण है । (इषवः) परमात्मा की बाण सदृश ज्ञान रश्मियां (आदित्याः) सूर्य की रश्मियों के समान सर्वत्र फैल रही हैं । अथवा "आद दाना यन्ति" इस व्युत्पत्ति से आत्मा को अपनी ओर खींच रही हैं । (तेभ्यः) उन सब अवस्थाओं के (अधिपतिभ्यः) उपासक आत्माओं का (नमः) कल्याण हो । (रक्षितृभ्यः छहों अवस्थाओं के

अन्तःकरणों का (नमः) मङ्गल हो=उनकी विशुद्धि हो। (इषुभ्यः) परमात्मा की दिव्य शक्तियों के लिये (नमः) प्रणाम हो। (नम एभ्यो अस्तु) ये सब के सब परस्पर सम्बद्ध होकर शुभकारक हों। इसके लिये हे भगवन्! (योऽस्मान् द्वेष्टि) जो हमारे साथ द्वेष करता है (यं वयं द्विष्मः) और जिसके साथ हम द्वेष करते हैं (तं वो जम्भे दध्मः) उसे आपके न्याय रूपी जबाड़े के अर्पित करते हैं।

विशेष वक्तव्य

सामान्य वक्तव्य में दिक् शब्द का अवस्था अर्थ किया गया है। प्राची शब्द यहां दिक शब्द का विशेषण है। प्रागञ्चत्यस्यामुपासकः" (जिस में उपासक प्रथम पग रखता है) इस व्युत्पत्ति से प्राची पद का प्रथम अर्थ किया गया है। और "प्राची" तथा "दिक्" दोनों का मिलकर प्रथम अवस्था अर्थ हो जाता है।

भावार्थ

उपासक की आरम्भिक अवस्था का कैसा मनोहर भावपूर्ण आलङ्कारिक वर्णन है। आत्मा को अग्नि कहकर उसके वर्तमान स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। अग्नि का प्रकाश आत्मा में ज्ञान की सत्ता का बोध करा रहा है। दूसरी ओर विशाल प्रकाश के भण्डार सूर्यदेव को दिखला कर, और वह अनन्त ज्ञान के भण्डार भगवान् की सहायता से बढ़ता है, यह स्पष्ट किया गया है। आंखों की रश्मियें बहुत थोड़ी दूर की वस्तुओं को देखने का काम करती हैं। परन्तु दूरबीन के शीशे की रश्मियों का सहयोग पाकर बड़ी दूर तक देख सकती हैं। आंखों की शक्ति तो अब भी वही है, परन्तु प्रबल सहकारी के प्राप्त होने पर वह शक्ति बढ़ी हुई प्रतीत होती है। जीव का ज्ञान

भी अल्प है। परन्तु ईश्वर प्रणिधान के द्वारा ईश्वरीय ज्ञान की सहायता पाकर वह विशाल और वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान करने योग्य बन जाता है। ईश्वरीय ज्ञान का सहयोग ही जीव को मुक्ति जैसे उच्च पद का भागी बनाता है। यही कारण है कि मुक्ति का नियत समय समाप्त होने पर, उस ज्ञान का सहयोग दूर होते ही जीव फिर अल्पज्ञ रह जाता है। और इसी लिए उसे कर्म द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के लिये फिर संसार में आना पड़ता है। अग्नि से सूर्य को भिन्न दिखला कर, जीव और ईश्वर भिन्न भिन्न शक्तियां हैं यह ध्वनित किया गया है। अन्तःकरण को यहां श्याम दिखलाया गया है। यह अन्तःकरण में तमोगुण की प्रधानता का निदर्शन है। योगदर्शन के प्रथम सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास जी ने अन्तः-करण के लिये लिखा है "चित्तं हि प्रख्या प्रवृत्ति

स्थिति शीलत्वात् त्रिगुणम्" चित्त, तत्वज्ञान, प्रवृत्ति और स्थिति तीन प्रकार के कार्य करता है, इस लिये सत्व, रज और तम तीन गुणों से इसकी रचना हुई है। चित्त में जब तमोगुण वढ़ जाता है, और सत्वगुण तथा रजोगुण कम हो जाते हैं, तो वह अधर्म, अज्ञान, विषयों की लालसा और दीनता से आक्रान्त हो जाता है। अनेक कुवासनाएं उसे घेर लेती हैं। तमोगुण से उत्पन्न हुए इन वासनाओं के समुदाय को ही यहां, अन्तःकरण के अन्दर भरी हुई ठोस स्याही का रूप दिया गया है। जीव इन वासनाओं की स्याही से घिरा हुआ दिखलाया गया है। ईश्वर स्थानीय सूर्यदेव की किरणें चारों ओर फैल रही हैं। परन्तु अन्तः करण की काली दीवार को पार कर अग्नि रूप आत्मा के पास नहीं पहुंच सकतीं। चाहता हुआ भी जीव उन से कोई लाभ नहीं ले सकता। जीव को विवशता

का यह कैसा सुन्दर चित्रण है। वह अभिलाषा करता है कि मुझे प्रभु के ज्ञान का प्रकाश मिले। परन्तु उसकी अपनी ही समय २ पर उत्पन्न की हुई वासनाओं का जाल उसके मनोरथ को सफल नहीं होने देता। इन वासनाओं के ही प्रभाव से मन सांसारिक विषयों की ओर बार २ दौड़ता है। विषय वासनाओं की पूर्ति असम्भव है, अतः विक्षिप्त होकर रात दिन उन्हीं की ओर दौड़ता रहता है। मन के इस विक्षेप को योग दर्शन में नौ भागों में बांट कर वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में इसी विक्षेप का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"।

विषयों के प्रकाशक इन्द्रियों की, सहायक ज्योति मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे। वह मन जो अब जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में भी दूर २ दौड़ता रहता है।

मन के इस दोष को दूर करने के लिये ईश्वर प्रणिधान एक अपूर्व साधन है। भगवान् ने यहां प्रकाश मान सूर्य को दिखलाकर, ज्ञान के भण्डार परब्रह्म के चिरन्तन की ओर निर्देश किया है। ऋषि पतञ्जलि ने भी ईश्वर प्रणिधानाद्वा" ईश्वर प्रणिधान से भी चित्त वृत्तियों का निरोध होता है, इस सूत्र से इसी विषय को स्पष्ट किया है। इस उपाय का अनुष्ठान करता हुआ उपासक, भगवान् से आत्म कल्याण के लिये प्रार्थना करता है। अन्तः करण में शुभ सङ्कल्प के सञ्चार और उसमें से कुवासनाओं के संहार की अभिकाङ्क्षा करता है। और भगवान् की सब शक्तियां के सामने, इस शुभ कार्य में

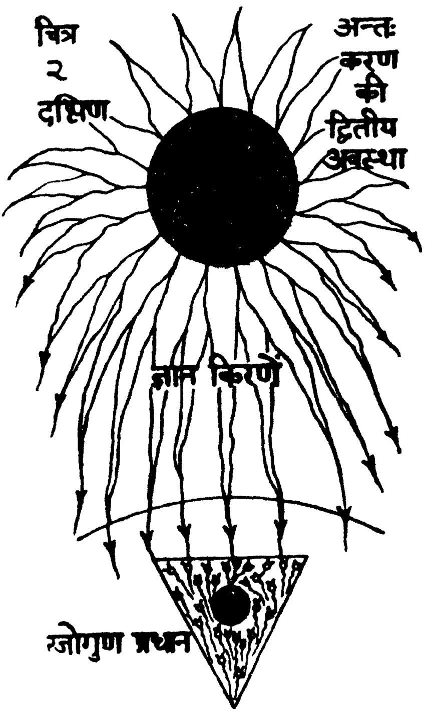
सहायता के लिये शिर झुकाता है । वह अपने विरोधी को स्वयं दण्ड नहीं देना चाहता, परन्तु अपने क्रोध और अभिमान के संहार की कामना से उसे प्रभु की न्याय दंष्ट्रा के अर्पण कर देता है। अपने इन शुभ कर्मों द्वारा वह तमो गुण के प्रबल आक्रमण से छूट कर दूसरी अवस्था में पग रखता है।

द्वितीय मन्त्र

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपति स्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः, तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ।

शब्दार्थ

दूसरी (दक्षिणा) समृद्ध (दिक) अव-



इस अवस्था में अन्तःकरण में वासनाएं
स्पष्ट रूप से प्रकट होकर प्रतीत होती ह
यहाँ पर तमोगुण का जड़ता दूर हो जाती
है रजोगुण का विक्षेप शष रहता है ।

स्था में (अधिपतिः) जीवात्मा (इन्द्रः) ऐश्वर्य शाली है। (रक्षिता) मन (तिरश्चिराजी) टेढे चलने वाले जन्तुओं के समान है । (इषवः) भगवान् की बाण सदृश शक्तियां (पितरः) पालक रूप हैं। शेष मन्त्र भाग का अर्थ आगे के सब मन्त्रों में प्रथम मन्त्र के समान है।

विशेष वक्तव्य

दक्षिण शब्द इस मन्त्र में दूसरी अवस्था के लिये आया है। यह शब्द दक्ष धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है "बढ़ना"। ईश्वर प्रणिधान से जीव की आध्यात्मिक अवस्था उन्नत हो गई है। और इसी लिये इस दूसरी अवस्था का नाम दक्षिण हुआ है। इस अवस्था में आत्मा को इन्द्र कहा है। यह शब्द इदि धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है "ऐश्वर्य प्राप्त करना"। इस अवस्था में जीव धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का पुजारी बनता है। प्रथम अवस्था में

अन्तःकरण में तमोगुण की मात्रा अधिक थी। परन्तु अब तमोगुण का ह्रास हो गया है, और रजोगुण की मात्रा अधिक है। इस अवस्था के लिये योग भाष्य में व्यास जी ने लिखा है—

"तदेव प्रक्षीण मोहावरणं सर्वतः प्रद्योत मान मनुविद्धं रजोमात्रया धर्म ज्ञानवैराग्यै-श्वर्योपगं भवति"।

"वही चित्त मोहावरण से छूट कर, सब ओर से प्रकाशित होता हुआ, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की ओर चलता है।

यही कारण है कि आत्मा को यहां इन्द्र कहा है। अन्तःकरण की इस रजोगुण प्रधान अवस्था का वर्णन, यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र में भी इसी प्रकार किया है। वह मन्त्र यह है—

"येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे

कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं यक्ष-मन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव सङ्कल्प-मस्तु"।

जिस रजोगुण प्रधान मन से कर्मशील विद्वान् लोग, यज्ञों और अनेक प्रकार की ज्ञान गोष्ठियों में शुभ कर्म करते हैं। और जो विचित्र शक्तियों का भण्डार और सत्कार योग्य है। वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

अन्तःकरण को यहां तिरश्चीराजी कहा गया है। तिरस् शब्द और अञ्च धातु के योग से तिरश्चि शब्द बना है, "तिरस्" का अर्थ है टेढ़ा, और 'अञ्च" का अर्थ चलना है 'राजि" नाम श्रेणी का है। इस लिये इस शब्द का अर्थ टेढ़े चलने वाले जन्तुओं की श्रेणी होता है। रजोगुण से उत्पन्न हुई चञ्चल वासनाओं का यह कैसा सुन्दर रूप है। राजस वासनाओं और

तिरश्चि राजी की तीव्र गति में कितनी अच्छी समानता है। दोनों ही के हानिकारक परिणाम भी सर्वथा समान हैं।

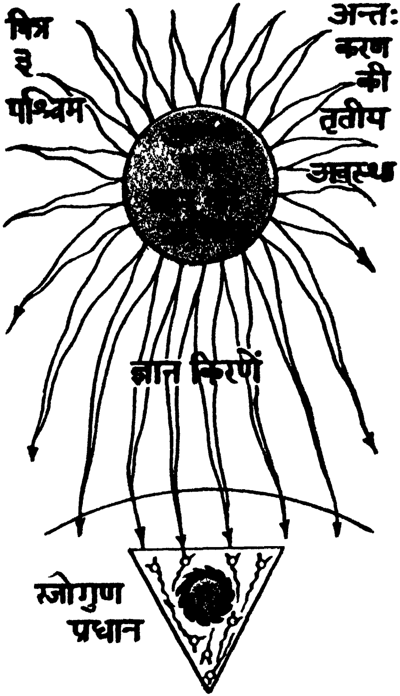
परमात्मा की शक्तियां यहां पिता या पालक के रूप में दिखलाई गई हैं। परमात्मा की शक्तियें सदा ही जीवों के पालन के लिये, उन्हें पवित्र गुणों से पुष्ट करने के लिये प्रस्तुत रहती हैं। परन्तु जो जीव उन शक्तियों से लाभ नहीं उठाता, उस के लिये तो भगवान् का पितृत्व गुण न होने के समान है। और यही कारण था कि उपासक की प्रथम—तमोगुण प्रधान, अवस्था में भगवान् की इस शक्ति का उल्लेख नहीं किया गया। अब दूसरी अवस्था में जीव भगवान् के गुणों से लाभान्वित होने लग गया है। अतः यहां भगवान् को पिता नाम से कहा गया है।

भावार्थ

दूसरी अवस्था उपासक को समृद्ध करने

वाली है। यज्ञ, दान, ज्ञान, चर्चा आदि धर्म के अङ्गों का अनुष्ठान इस अवस्था में किया जाता है। इसके पास सांसारिक ऐश्वर्य बड़ी तीव्रता से आता है, परन्तु यह उसका उचित उपयोग करता हुआ उसके संग्रह से बचने का यत्न करता है। यश ज्ञान आदि पवित्र भाव ही इसे भले प्रतीत होते हैं, और उन्हीं का संग्रह करता है। और इसी प्रकार की सम्पत्ति से यह अपने आप को सम्पत्तिशाली या इन्द्र समझता है। यद्यपि ये धर्मकार्य भी परलोक में इसके श्रेष्ठ जन्म के साधन बनते हैं, और इसी लिये बन्धन के कारण हैं। परन्तु बन्धन के लिये प्रस्तुत की गई इस शृङ्खला में और तमोगुण प्रधान अवस्था की शृङ्खला में रात्रि दिन का अन्तर है। यदि वह लोहे की शृङ्खला थी तो यह सोने की है। वह दूषण थी और यह भूषण है। वह अपमान, अपयश, लोकनिन्दा और निन्दित जन्म का

कारण थी, और यह मान, यश, प्रशंसा और श्रेष्ठ जन्म का कारण है। यही ऐश्वर्य संसार के सब ऐश्वर्यों में उत्तम है। परिश्रम से भगवान् के शुभ गुणों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर, आत्माने अन्तः करण के तमोगुण को निर्बल कर दिया है। उसकी निर्बलता से रजोगुण जाग उठा है। अपनी वृत्तियों का विस्तार कर उसी ने इस धर्मानुकूल कर्म शृङ्खला को जन्म दिया है। सत्वगुण यद्यपि प्रबल नहीं है, परन्तु सूक्ष्म रूप में होता हुआ भी वह तमोगुण का प्रतिबन्ध हट जाने के कारण रजोगुण का सहायक बन गया है। इसकी वृत्तियां अब सर्प आदि कुटिल गामी जन्तुओं की तरह चञ्चल, और मुक्ति से वञ्चित रखने के कारण हानि कारक तो अवश्य हैं, परन्तु वे इसे कुमार्ग की ओर ले जाने वाली नहीं हैं। तमोगुण के क्षीण हो जाने पर इसके अन्तः करण में कुछ मात्रा में



इस अवस्था में वासनाएं क्षीण होकर विरल होगई हैं अतः आत्मा तक प्रकाश पहुंचता है, रजोगुण जन्य अजगर के समान दृढ़मूल वृत्तियां शेष हैं।

प्रतिबिम्बित हुई परमात्मा की शक्तियाँ भी अब इसका पुत्र की तरह पालन कर रही हैं। पिता की गोद में बैठ कर बच्चे का जो उत्साह और आह्लाद होता है, उसका वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् की प्रेरणानुसार शुभ कर्म करने वाला मनुष्य उसी आल्हाद का साक्षात् अनुभव करता है। मार्ग के सङ्कट कण्टकों को भी फूल समझता हुआ उपासक अब बड़े प्रमोद से उनके साथ खेला करता है। इस प्रकार के शुभ कर्मों का अनुष्ठान और ईश्वर प्रणिधान करता हुआ वह अब तृतीय अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

तृतीयं मन्त्र

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः, तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो

रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तंवो जम्भे दध्मः।

शब्दार्थ

तीसरी (प्रतीची) भगवान् की ओर ले जाने वाली (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (वरुणः) ग्रहण करने वाला (रक्षिता) मन (पृदाकू) अजगरों के सदृश और (इषवः) परमात्मा की बाण सदृश शक्तियां (अन्नम्) खाद्य रूप हैं।

विशेष वक्तव्य

तीसरी अवस्था में आत्मा को वरुण कहा-गया है। वरुण शब्द वृ धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ स्वीकार करना है। प्रथम अवस्थाओं में भगवान् की ओर उन्मुख करने के लिये, इस के लिये उपदेश और स्वाध्याय की भी आवश्य

कता थी। परन्तु अब यह प्रभु के गुणों को अङ्गीकार करने के लिये स्वयं दौड़ता है। इस लिय यहां इसे वरुण कहना सङ्गत ही है।

मन को यहां पृदाकू नाम दिया गया है। पृदाकु शब्द पर्द धातु से काकु प्रत्यय होकर बना है। पर्द धातु का अर्थ है बुरा शब्द करना। बुरा शब्द करने वाले यद्यपि बहुत जन्तु होते हैं। परन्तु हमारे इस प्रकरण के लिए अजगर अर्थ अनुकूल है। अजगर जैसे बड़े २ दृढमूल संस्कार अब अन्तः करण में शेष रह गये हैं। शेष सब दुर्वासनाएं निर्मूल हो चुकी है। बस यही इस रूपक का तात्पर्य है।

परमात्मा की शक्तियों को यहां अन्न कहा गया है। अन्न शब्द अद धातु से बना है। अद् धातु का अर्थ है खाना। इस लिए यह तात्पर्य हुआ कि परमात्मा की ज्ञान शक्ति अब जीवात्मा का खाद्य बन गई है। जीवात्मा का

आत्मिक भोजन ज्ञान है। ज्ञान से ही आत्मा का बल बढता है, और बल बर्धक पदार्थ को ही खाद्य कहते हैं। अब आत्मा उसी वास्तविक भोजन को अपना भोजन समझता है। संसार की अन्य वस्तुओं से अब इसका मन हट गया है। यदि किसी वस्तु की इसे लालसा है तो वह ईश्वरीय ज्ञान है।

भावार्थ

विषयों की ओर बहती हुई चित्त नदी के प्रवाह को रोके बिना, उसका भगवान् के गुणों की ओर झुकाव होना असम्भव है। इस लिये उपासक को विषयों के दोषों की समालोचना, विवेचनात्मक बुद्धि से करनी पड़ती है। विवेचन के आधार पर श्रद्धा और उत्कण्ठा को उस ओर से हटा कर, प्रभु के पवित्र गुणों की ओर आकर्षित करना पड़ता है। ऋषि पतञ्जलि का

"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णास्यवशीकार संज्ञा वैराग्यम्" सूत्र इसी विचार को प्रकट करता है। इसका भाव है, लौकिक और पार लौकिक दोनों ही प्रकार के विषयों की तृष्णा को छोड़ कर, मन को वश में करना वैराग्य है। वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। वृत्तियों का निरोध होने पर ही आत्मा को ईश्वरीय गुणों के निरन्तर ग्रहण करने का अवसर मिलता है। और तभी वह वरुण कहलाने के योग्य होताहै। वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान द्वारा, विषय की उत्कण्ठा को उपासक ने अब दूर कर दिया है। कोई एक दो दृढमूल संस्कार शेष रह गये हैं। और उन के भी उन्मूलन के लिए अब प्रयत्न किया जा रहा है। अब अन्तः करण विशेष रूप से ज्ञान के ही ग्रहण, चिन्तन और धारण के लिए व्यापारित किया जाता है। यजुर्वेद के

चौंतीसवें अध्याय का तीसरा मन्त्र, मन की इसी अवस्था को प्रकट करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

"यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतंप्रजासु, यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्मक्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"।

जो उत्कृष्ट ज्ञान का साधन, प्रभु का ही प्रतिक्षण चिन्तन करने वाला, दृढ़ धारणा वाला, प्रकाशरूप, उत्पन्न होने वाली शरीर की शक्तियों के बीच में अमर अर्थात् आत्मा के सदा साथ रहने वाला, और जिसके विना मनुष्य कोई भी कार्य्य नहीं कर सक्ता, वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

इस अस्वथा में भी अन्तःकरण में है तो रजोगुण की ही प्रधानता परन्तु ज्ञान में उत्कृष्टता आगई है। इसी लिये मन को यहां प्रज्ञान कहा है। स्मृतिशक्ति और धारणा शक्ति भी बढ़ गई

है। इसी लिये उसे चेतः और धृति कहा है। इस अवस्था में अन्तर् से उज्जवल हो गया है और उसकी ज्योति अन्तर् ध्यान होने पर पर स्पष्ट दृष्टि गोचर होती है, इसी लिये उसे "अन्त ज्योतिः" कहा है। स्वच्छ होने पर मन अब प्रभु के चिन्तन में तल्लीन रहता है। जिस सद्भावना को स्वाध्याय से या श्रवण से जानता है, उस को मनन कर तत्काल धारण कर लेता है। प्रमाद और उपेक्षा के भाव दूर कर दिये है। इसीलिए आत्मा को अब वरुण उपाधि मिल गई है। दूसरी अवस्था में परमात्मा की शक्तियां पिता की भांति जीव का पालन करती थीं, परन्तु अब जीव स्वयं भावुकता से उस ओर झुका हुआ है। और इसीलिये वे शक्तियां अब इसका अन्न = अध्यात्मिक भोजन बन गई है। जिस प्रकार भूखा भोजन के लिये, उसी प्रकार यह उन शक्तियों के ग्रहण

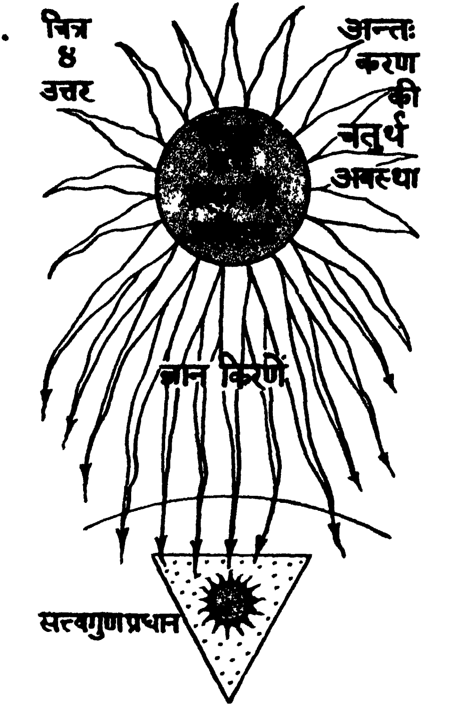
के लिए अब स्वयं दौड़ता है। ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त कर उपासक चतुर्थ अवस्था में प्रवेश करता है।

चतुर्थ मन्त्र

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताः शनी रिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं न्द्विष्मस्तंवो जम्भे दध्मः।

मन्त्रार्थ

चौथी (उदीची) ऊपर को ले जाने वाली (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (सोमः) चन्द्रमा के गुणों वाला होता है। (रक्षिता) मन (स्वजः) स्व स्वरूप में ही परिणत होता रहता है। (इषवः) परमात्मा



इस अवस्था में रजोगुण निर्बल तथा सत्त्वगुण प्रधान होगया है विवेक ख्याति नामक वृत्ति उत्पन्न होगई है ।

की बाण सदृश शक्तियां (अशनिः) विद्युत् के समान हैं।

विशेष वक्तव्य

उदीची शब्द उत् पूर्वक अञ्च धातु से बनता है। अञ्च का अर्थ उत् को साथ मिलाने पर ऊपर को ले जाना हो जाता है। सोम शब्द षुञ् धातु से बनता है। इस का अर्थ है निचोड़ना या रस निकालना। चन्द्रमा वनस्पतियों में रस का सञ्चार करता है इस लिये उसे सोम कहा गया है। जो मनुष्य चन्द्रमा की भांति प्रेम रस की वर्षा करने वाला हो उसे भी सोम कह सकते हैं। स्वज शब्द स्व और जन धातु से बनता है। स्व का अर्थ है स्वयं और जन का अर्थ है उत्पन्न होने वाला। इस अवस्था में मन स्व स्वरूप में ही परिणत होता है, इस लिये उसे स्वज कहा गया है। अशनि नाम विद्युत् का है, विद्युत एक प्रकाशमान् तत्व

है। भगवान् का ज्ञान रूप प्रकाश यहां अन्तः करण में विद्युत् की तरह फैल जाता है, इस लिये परमात्मा की ज्ञान शक्ति को यहां अशनि कहा है। अथवा अश नाम खाने का है और परमात्मा की ज्ञान शक्ति इस अवस्था में जीव के अज्ञान अन्धकार को खा जाती है, इस लिये उसे यहां अशनि कहा है।

(भावार्थ)

तृतीय अवस्था में आत्मा ज्ञान को अपना भोजन बना चुका था अब वह ज्ञान से परिपूर्ण होकर गम्भीर और शान्त बन गया है। चन्द्रमा जिस प्रकार सूर्य की किरणों को प्राप्त कर, उन के द्वारा वनस्पतियों में रस का सञ्चार करता हुआ संसार को लाभ पहुंचता है। इसी प्रकार जीवात्मा अब परमात्मा के ज्ञान से परिपूर्ण हो कर उस ज्ञान के द्वारा संसार को लाभ पहुंचा रहा है, और चन्द्रमा की तरह प्रशान्त होकर

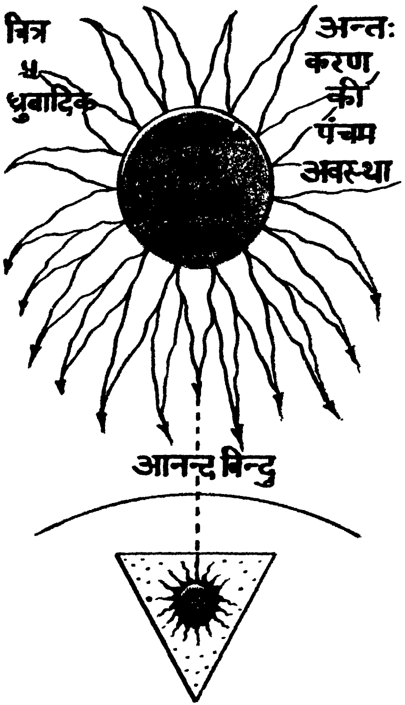
संसार के प्रेम का भाजन बन रहा है। यह अब अपने अन्तःकरण से वासनान्धकार का समूल नाश कर चुका है। अब एक ही वृत्ति शेष रह गई है, उसका नाम है प्रकृति पुरुष विवेक ख्याति, अर्थात् प्रकृति पुरुष की विभिन्नता का ज्ञान। यह अवस्था अन्तःकरण का सात्विक परिणाम है। निर्बीज समाधि की प्राप्ति के लिये चित्त की इस वृत्ति का भी निरोध करना पड़ता है। इस अवस्था में चित्त, धर्म मेध ध्यान का अनुसरण करता है। चित्त की इस अवस्था को यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के चतुर्थ मन्त्र में इस प्रकार प्रकट किया गया है।

"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीत ममृतेन सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु।"

जिस अमृत = आत्मा के साथ सदा रहने

वाले अन्तःकरण ने, भूत, वर्तमान और भविष्यत वस्तुओं को जान लिया है अर्थात उनके गुण विभाग को समझ कर उन्हें चैतन्य शक्ति से विभिन्न समझ लिया है। जो पांच ज्ञानेन्द्रियें, आत्मा और बुद्धि इन सात होताओं के द्वारा ज्ञान यज्ञ और परोपकार यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है। वह मेरा मन शुभ सङ्कल्प को धारण करे।

सत्व गुण प्रधान अन्तःकरण के द्वारा इस अवस्था में आत्मा सारे प्राकृतिक तत्वों को जान लेता है। उन की विशेषताओं को जानकर चैतन्य और जड़ के भेद को भली भांति समझ जाता है। उसको बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियें अब ज्ञान यज्ञ का ही अनुष्ठान किया करते हैं। अपने उस पवित्र ज्ञान से वह संसार के प्राणियों का उपकार किया करता है। लोगों के क्रोध से आक्रान्त होने पर भी अब उसे क्रोध नहीं



इस अवस्था में विवेक ख्याति का भी अन्त हो गया है और आत्मा समाधि द्वारा आनन्द का लाभ करता है।

आता। वह सर्वदा शान्त और मधुरभाषी रहता है। इस प्रकार विवेक ख्याति को उत्पन्न कर उपासक पांचवीं अवस्था की ओर अभिगमन करता है।

पञ्चम मन्त्र

ध्रुवा दिग्विष्णु रधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयन्द्विष्मस्तंवो जम्भे दध्मः।

शब्दार्थ

पांचवीं (ध्रुवा) निश्चल (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा, (विष्णुः) ज्ञान से व्यापक है। (रक्षिता) मन (कल्माष ग्रीवः) शयम कण्ठ है। (इषवः) परमात्मा

की बाण सदृश शक्तियां (वीरुधः) बल्ली के समान हैं।

(विशेष वक्तव्य)

ध्रुव शब्द ध्रुव धातु से बना है। इसका अर्थ है स्थिर होना। इस अवस्था में अन्तः करण स्थिर होता है। विवेक ख्याति नामक वृत्ति का भी यहाँ निरोध हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को ध्रुव कहा गया है। जीवात्मा को यहाँ विष्णु कहा गया है। यह शब्द विष धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है व्यापक होना। इस अवस्था में आत्मा का ज्ञान अपने अंश में पूर्ण और व्यापक हो जाता है, इस लिए उसे विष्णु कहा है। मन को यहां कल्माप-ग्रीव नाम दिया गया है। कल्माष का अर्थ रङ्गों को आक्रान्त करने वाला है, यह कार्य काला और चित्र दोनों रंग कर देते हैं। चित्र नाम पड़ने पर भी वहां वर्तमान अनेक रंगों

के नाम भूल जाते हैं। और काला रंग भी सब रंगों को दबा लेता है। हम अपने प्रकरण के अनुसार इसका श्याम अर्थ ही लेंगे। रभस और हेम कोपकार ने भी इसके श्याम अर्थ को स्वीकार किया है। ग्रीवा नाम गर्दन का है। अब दोनों पदों का सम्मिलित अर्थ हो गया "काली गर्दन वाला"। प्रथम अवस्था में अन्तः करण की संस्कारों के आवरण से श्याम दिख· लाया गया था। अब केवल विवेक ख्याति नामक एक वृत्ति शेष रह गई थी। और अब इसका भी अन्त होने वाला है। यही कारण है कि श्यामता को अन्तः करण के कण्ठ में दिखलाया गया है। जब किसी मनुष्य के प्राण समाप्त होने वाले हों तो उसके लिये इसी प्रकार का प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि "कण्ठ में प्राण हैं"। भगवान् ने भी यहां इसी शैली का प्रयोग कर वृत्ति के अन्त की सूचना दी है। परमात्मा की शक्तियों

को यहां वीरुध् कहा गया है । वीरुध् शब्द वि उपसर्ग और रुध् धातु से बनता है । वि का अर्थ विशेष और रुध् का अर्थ आवृत या आच्छादित करना है । जिस प्रकार बेल वृक्ष पर चढ़कर उसे चारों ओर से घेर लेती है । इसी प्रकार परमात्मा की विभूतियों ने, आत्मा को अब सब ओर से आच्छादित कर लिया है । बेल में से रस निकलता है और उपनिषदों में आनन्द को भी रस कहा है । "रसो वै सः, रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" । (परमात्मा का आनन्द रस है, और उस रस को ही प्राप्त कर जीव आनन्दित होता है । पहिली अवस्थाओं में जीव विज्ञान की प्राप्ति के लिये यत्न करता रहा है, परन्तु यहां वृत्ति निरोध हो जाने से प्रभु के आनन्द रस को भी लूटता है । परन्तु इतना ध्यान रहे कि बेल में से रस निचोड़ कर निकल जाता है । इसी प्रकार उपासक भी यहां समाधि लगाने पर

ही आनन्द का अनुभव करता है, सर्वदा नहीं। इस समय यह युआन योगी की अवस्था में है।

भावार्थ

तमोगुण के मन मोहक चित्रों का अन्त हुआ। रजोगुण की जगमगाती हुई विषयमाला भी अतीत के गर्भ में विलीन होगई। अपने सब खिलौने आत्मा ने अपने हाथों तोड़ डाले। अब रह गया खाली हाथ। खेले तो किस वस्तु से खेले। विवश संसार से मुख मोड़ना पड़ा। परन्तु अन्तर्मुख होते ही एक विचित्र दृश्य की जवनिका उठी। इतना उज्ज्वल और इतना मधुर प्रकाश आत्मा ने अब तक कभी न देखा था। इस जगद्भानु की थोडी २ झलक तो दूसरी अवस्था में ही प्रतीत होने लगी थी। परन्तु चतुर्थ अवस्था में यह जगमगाता हुआ मस्तिष्क में उदित हो गया था। अब पांचवीं अवस्था में तो अपनी रश्मियां फैला कर इसने इतना विस्तार

किया कि जगत् के कोने २ में इसकी आभा दे दीप्यमान प्रतीत होने लगी। इस प्रकाश के विकास से ही आत्मा ने अब विष्णु की पदवी पाई। उसने अन्तःकरण को एक और ठोकर लगाई। और इस आघात से सत्व गुण की सुता विवेक ख्याति को भी उसके कारण में लीन कर दिया। अब दोष के बीजों का भी सर्वनाश हुआ, और अन्तःकरण की लीलाओं का उपसंहार हुआ। अत एव प्रतिबन्धक के अभाव से ज्ञान का विस्तार और आत्मा में आनन्द का सञ्चार हुआ। योगिराज पतञ्जलि ने इस अवस्था को कैवल्य के निकट की अवस्था कहा है। उन का सूत्र है—"तद्वैराग्यादपि दोष बीज क्षये कैवल्यम्" (विवेक ख्याति से भी वैराग्य हो जाने पर दोष के बीज का नाश और मोक्ष का लाभ होता है)। अब आनन्द कन्द भगवान् के आनन्द की लता आत्मा के सब अङ्गों पर फैल

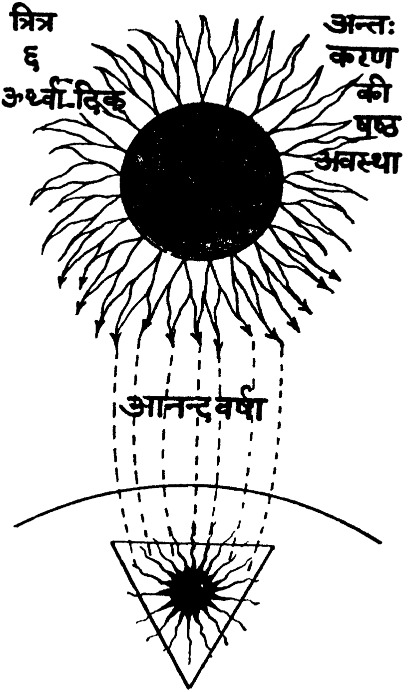
गई। चिर काल के बिछड़े सम्बन्धी मिल गये। आनन्द रस में निमग्न उपासक की ओर श्रद्धा और प्रेम से भरी जनता की दृष्टि पड़ने लगी। सब के चित्त अब इसी की ओर उमंग भरी भावना से खिंचने लगे। इस अवस्था का चित्र, यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के पांचवें मन्त्र में इस प्रकार खींचा गया है—

"यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु"।

जिस मन के अन्दर ऋक, यजु और साम नामक सब विज्ञान, रथ की नाभि में अरों की तरह ओत प्रोत हैं। और जिसके अन्दर संसार के सब प्राणियों का चित्त समुदाय आकर्षित होकर प्रविष्ट हो गया है। वह मेरा मन शुभ

सङ्कल्प को धारण करे।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ज्ञान की व्यापकता दिखलाई गई है। और उत्तरार्ध में विशुद्ध आत्मा में आकर्षण की महत्ता का वर्णन है। आत्म-शुद्धि का प्रभाव दूसरे प्राणियों पर अवश्य पड़ता है। "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" (अहिंसा के स्थिर मूल हो जाने पर उस अहिंसक महात्मा के पास आकर विरोधी प्राणी शत्रुता छोड़ देते हैं)। यह पतञ्जलि का सूत्र, आत्म शुद्धि के अन्यों पर प्रभाव का स्पष्ट व्याख्यान कर रहा है। इस अवस्था में जो ज्ञान की व्यापकता दिखलाई गई है उसका भी पतञ्जलि ऋषि अनुमोदन करते हैं। उन का सूत्र है—"तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयक्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम्"। तात्पर्य यह है कि विवेक अवस्था में अन्तःकरण में ज्ञान अपनी प्रतिभा से ही उत्पन्न



इस अवस्था में समाधि लगाए बिना भी आत्मा पर आनन्द का वर्षा होती रहती है ।

होता है। इस ज्ञान के द्वारा योगी सब विषयों को सर्वांश में युगपत् जान लेता है। इस प्रकार ज्ञान के भण्डार और आनन्द रस को प्राप्त कर उपासक छटी अवस्था के लाभ का यत्न करता है।

षष्ठ मन्त्र

ऊर्ध्वा दिग्वृहस्पति रधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयन्द्विष्मस्तंवो जम्भे दध्मः।

शब्दार्थ

छठी (ऊर्ध्वा) ऊंची (दिक्) अवस्था में (अधिपतिः) आत्मा (वृहस्पतिः) बड़ों २ का स्वामी है। (रक्षिता) मन (श्वित्र) सफ़ेद है।

(इषवः) परमात्मा को बाण सदृश शक्तियां (वर्षम्) वृष्टि रूप हैं।

(विशेष वक्तव्य)

ऊर्ध्वा शब्द का अर्थ है "ऊंची"। वस्तुतः यह अवस्था पिछली सब अवस्थाओं से ऊंची है। उदीची दिशा ऊंचे लेजाने वाली थी, परन्तु यह ऊंचे लेजाने वाली नहीं स्वतः ऊंची है। जीवात्मा को यहां बृहस्पति कहा है। यह शब्द बृहत् और पति शब्द के मेल से बना है। इन में से बृहत् का अर्थ बड़ा और पति का अर्थ स्वामी है। इस प्रकार इसका अर्थ बड़ों २ का स्वामी हो जाता है। वेद में बृहत् के अर्थ में बृहस् शब्द भी आता है। इसलिये बृहस् और पति शब्द के मेल से भी यह शब्द बन सकता है। यह अवस्था आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है। अतः ऐसे आत्मा को महत्तम कहना युक्तियुक्त ही है। मन को यहां श्वित्र कहा है। श्वित्र शब्द श्विति-

धातु से बना है इस धातु का अर्थ है सफ़ेद होना इस लिये श्वित्र शब्द का अर्थ सफ़ेद है। पहिली अवस्था में अनेक वासनाओं से आक्रान्त अन्तःकरण को श्याम दिखलाया गया था। वासनाओं के समूलनाश हो जाने के कारण इस अवस्था में उसे श्वेत कहा गया है। परमात्मा की शक्तियें यहां वर्ष बन गई हैं। वर्ष शब्द वृषु धातु से बना है। इस का अर्थ है सींचना या वृष्टि करना आत्मा के उपर अब परमात्मा के परमानन्द की प्रतिक्षण वर्षा होरही है। अतः आनन्द शक्ति को यहां वर्ष नाम उचित ही दिया गया है।

प्रथम अवस्था में तमोगुण की पाप कर्म जननी वासनाओं का अन्त हुआ। द्वितीय और तृतीय अवस्थाओं में रजोगुण की धर्मानुसारिणी वृत्तियो का तिरोधान हुआ। चतुर्थ अवस्थाओं में सत्व गुण की महिमा से विवेक ख्याति प्रकट हुई। पञ्चम अवस्था में विवेक ख्याति

भी अपने कारण में लीन हो गई। आत्मा की पुनीत गुहा में भगवान् के विज्ञान का दीपक जल गया और आनन्द रस के आस्वाद से आत्मा प्रफुल्लित और कृत कृत्य हो गया। अब इस अवस्था में विज्ञान के विशाल भण्डार पर अधिकार कर यह वृहस्पति बना है। संसार में अनेक वस्तुएं बड़ी हैं, परन्तु महत्ता की पराकाष्ठा भगवान् के स्वरूप में मानो गई है। फिर उस भगवान् के स्वरूप का जिसने आलिङ्गन किया हो, उससे बड़ा मनुष्य संसार में कौन है। वह देव गुरू है=वृहस्पति है उसका अन्तः करण अब उज्ज्वल है और विज्ञान की देदीप्यमान आभा से चमक रहा है। प्रथम वह प्रतिबन्धक था। परन्तु अब आत्मा के साथ होकर संसार के भूले पथिकों को मार्ग दिखला रहा है। मन की इस उच्च अवस्था का वर्णन, यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के षष्ठ मन्त्र में बड़ी सुन्दरता

से किया गया है। मन्त्र और उसका भाव आगे पढ़िये—

"सुपारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषु भिर्वाजिन इव। हृत्प्रतिष्ठं यद्‌जिरं जनिष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु"।

"जिस प्रकार विद्वान् सारथि सुशिक्षित घोड़ों को रस्सियों द्वारा उचित मार्ग पर चलाता है। इसी प्रकार तीव्र वेग वाला भी अब निश्चल हुआ २ मेरा मन, मनुष्यों को शुभ मार्ग पर भली भान्ति लेजा रहा है। अब यह शिवसङ्कल्प ही रहे, अर्थात् पतन की ओर न जावे"।

पांचवीं अवस्था में बल्ली में से रस निचोड़ना पड़ता था समाधि लगाने पर आनन्द की प्राप्ति होती थी। परन्तु अब तो अहर्निश आनन्द की वर्षा हो रही है। इसी अवस्था के लिये योगि-

राज पतञ्जलि ने कहा है "तदाद्रष्टुः स्वरूपे ऽवस्थानम्" (इस समय आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर होता है) पहिले विक्षिप्त मन उस में क्षोभ उत्पन्न करता रहता था । पर अब ऐसा नहीं है इस सूत्र की यह व्याख्या व्यास जी ने की है । उनकी भी यह व्याख्या निर्मूल नहीं है । उन की इस व्याख्या में आधार है सांख्य याग प्रक्रिया और ऋषि पतञ्जलि का "पुरुशार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यम्, स्वरूप प्रतिष्ठावाचिति शक्तिरिति" । यह सूत्र इसका भाव यह है "कृत कार्य गुणों का अपने कारण में लय अथवा स्वरूप स्थित चितशक्ति= आत्मा. कैवल्य है ।

यह तो हुआ ऋषि पतञ्जलि और व्यास जी का भाव । अब देखना यह हैं कि यदि आत्मा की स्वरूप स्थिति मात्र ही मोक्ष को स्वरूप है,

तो कहना पड़ेगा कि मोक्ष में आत्मा को परमात्मा की ओर से कुछ नहीं मिला। और यदि इस विचार को इसी रूप में स्वीकार करलें तो हमें, वेदों और उपनिषदों से दूर जाना पड़ेगा। वेद और उपनिषद्, आत्म शुद्धि अथवा आत्मस्वरूप को ही मोक्ष नहीं मानते। उनके मत में मुक्त को भगवान् का आनन्द भी प्राप्त होता है। इस विषय के प्रतिपादक प्रमाण तो बहुत हैं परन्तु यहां विस्तार भय से हम एक दो ही दे सकेंगे। यथा—

"मित्र ईक्षमाण आवृत आनन्दः।

अथर्व ९-७-२३

"दृश्यमान् भगवान् समन्तात् वर्तमान आनन्द रूप है" तात्पर्य यह है कि भगवान् का दर्शन होने पर आत्मा को सब ओर से आनन्द मिलता है।

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।"

तैत्तिरीय ब्रह्मानन्द वल्ली अ० ४

"जहां से मन सहित वाक् आदि इन्द्रियां पहुंच न सकने के कारण लौट आती हैं उस ब्रह्म के आनन्द को आप्त कर के आत्मा को किसी से भय नहीं रहता।" तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द इन्द्रियों और मन की पहुंच से परे है। मोक्ष दशा में आत्मा को उस का साक्षात् अनुभव होता है। ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर आत्मा निर्भय होता है।

अब पाठक समझ गये होंगे कि वेदों और उपनिषदों के मत में आत्मा की स्वरूप स्थिति ही मोक्ष नहीं है। प्रत्युत आत्मा की स्वरूप स्थित होकर भगवान् के आनन्द रूप में स्थिति मोक्ष है। दूसरे शब्दों में हम इसी विषय को यों कह सक्ते हैं। कि जीव प्रथम प्रकृति के क्षणिक आनन्द में निमग्न था, उसके अध्यास से अपने

आप को भूला हुआ था । और अब भगवान् के आनन्द स्वरूप में निमग्न है = उसके अध्यास से अपने आप को भूला हुआ है, इस लिये वस्तुतः अब वह अपने स्वरूप में नहीं ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है । इस वैदिक विचार को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवतः ऋषिदयानन्द ने ऋषि पतञ्जलि और ऋषि व्यास के प्रस्तुत विचारों में संशोधन उपस्थित करते हुए "तदा द्रष्ठु स्वरूपे ऽवस्थानम्" का अर्थ "परमात्मा के स्वरूप में स्थिति" किया होगा । तो फिर क्या सांख्य और योग के विचार अवैदिक हैं ? नहीं । सांख्य और योग का काम तो दुःख निवृत्ति, तथा चित्त निरोध के साधनों का उपस्थित करना था, सो उन्होंने कर दिया । ब्रह्मानन्द के प्राप्त कराने की न उन्हों ने प्रतिज्ञा की थी, और न इस अनधिकार चर्चा में पड़ना उन्हों ने उचित समझा । ऋषि कपिल ने प्रथम ही पुकार कर कह दिया है,

"त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः" (तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है) मनुष्य का लक्ष्य है। ऋषि पतञ्जलि ने अपने शास्त्र का तात्पर्य बतलाते हुए प्रथम ही कह दिया है, "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" (चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है)। इस प्रकार इन ऋषियों ने जिस लक्ष्य की सिद्धि के लिये अपने शास्त्र का आरम्भ किया है, उसी को आदि से अन्त तक निभाया है। ईश्वर का निरूपण भी ऋषि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोध के सहायक रूप में ही किया है। दुःख निवृत्ति, या चित्त वृत्ति निरोध के बाद ब्रह्मानन्द प्राप्ति का न उन्हों ने निषेध किया है और न विधान। और न यह विषय उनके शास्त्र का प्रतिपाद्य था। दुःखनिवृत्ति और वृत्तिनिरोध के बाद क्या मिलेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यदि पूछना हो तो वेद या वेदान्त के पास जाइये।

इति

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	५	परिणित	परिणत
१५	१३	का	की
१५	१४	मा	मी
१६	११	ऽस्यो	ऽस्य
२२	१७	का	की
२४	१४	का	को
२८	१	माटे	मोटे
२९	५	तात्पय	तात्पर्य्य
३३	३	दानों	दोनों
३४	८	चाहिय	चाहिये
३४	१५	हा	हो
३७	१	पररक्षा	परीक्षा
३७	१२	जाता	जाता है
४४	९	सच्चाई	सचाई
४८	२	द्वन्द्वा	ततो द्वन्द्वा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०	४	एस	इस
५४	१२	सुपि:	सुषि:स
५६	१६	करने के	×
५८	९	जातो	जाती है, जिससे पाप नाश की ओर अग्रसर हो जाता है।
५८	११	इसलिये	×
६०	१६	उससे	उसके
६४	१०	करता	करता है
६५	७	अघमर्षण	अघमर्षण द्वारा
६५	७	का	की
६७	१	किशेषण	विशेषण
६७	३	का	की
६७	१५	ऋषि	ऋषि के
६९	१०	का	को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६९	१५	बड़े २	बड़ी २
७०	१७	किरण	किरणों
७२	४	कसी	कैसी
७२	१२	को	का
७२	१४	करगे	करेंगे
७८	९	ऽथ	ऽप्य
८०	७	राशि	राशि रमिच्छ
८२	१	अथ	अर्थ
८७	८	और	×
९१	८	चिरन्तन	चिन्तन
९५	१६	रूप	रूपण
९९	३	का	को
१०२	२	का	को
१०५	७	अत्रण	श्रवण
१०६	६	ता: शनि	ताऽशनि
१०६	८	द्वे	द्वेष्टि
११०	१२	का	को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१११	१५	शयम	श्याम
११३	८	की	को
११४	१६	निकल	निकाला
१२४	१	द्रष्ठुः	द्रष्टुः
१२४	९	पुरुशार्थं	पुरुषार्थं
१२४	९	ति"। यहसूत्र	ति" यय सूत्र।
१२६	२	ब्रह्मान्द	ब्रह्मानन्द
१२६	५	आप्त	प्राप्त
१२८	१७	क	के

पं० मुक्तिराम उपाध्याय जी कृत कुच्छ पुस्तकें।

१. सन्धि विषय। ≤

२. सन्ध्या के तीन अंग। ।-

३. ड्योढ़ी के पांच दरवान। -

वजीरचन्द शर्म्मा, अध्यक्ष वैदि
पुस्तकालय, मोहनलाल रोड लाहौर।